# सन्मति महावीर

सुरेश मुनि

# सन्मति महावीर

सुरेश मुनि

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

सन्मति-साहित्य-रत्नमाला का २९ वाँ रत्न

# सन्मति-महावीर


लेखक

कविरत्न पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज के सुशिष्य

मुनि श्री सुरेशचन्द्र जी, शास्त्री "साहित्यरत्न"

प्रकाशक—
सन्मति-ज्ञान-पीठ
लोहामण्डी, आगरा।

प्रथम प्रवेश
सम्वत् २०११
मूल्य सवा रुपया

मुद्रक—
साहित्यालङ्कार प० नागेन्द्रनाथ शर्मा,
दी कौरोनेशन प्रेस,
फुलट्टी बाजार, आगरा।
फोन नं० १७१

किस को ?

जिन के अमर वात्सल्य का,

सरस और मधुर,

विचार-पाथेय पाकर ही,

मैं अपनी जीवन-यात्रा में,

चलता चला आ रहा हूं।

उन परम श्रद्धेय, पूज्यपाद,

गुरुदेव के कर-कमलों मे,

स विन य

स भ क्ति

स म र्पि त

—सुरेश मुनि

## दो बोल

यह श्रमण भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र नहीं है। क्या विराट् महासागर में से एक-दो जलकणों को निकाल कर दिखाना, उस महासागर का परिचय हो सकता है?

फिर भी, जो कुछ बन पड़ा है, यह उस महाप्रभु के प्रति निश्छल एव अकृत्रिम भक्ति के उद्गार तथा हार्दिक श्रद्धा का एक लघु रूप है। और है, बहुत दिनों से अन्तर्मन में घूमते हुए एक सूक्ष्म सकल्प का मूर्त रूप!

एक बात और। पूर्व-रग और धर्म-देशना के पृष्ठों में ब्राह्मण एवं श्रमण-वर्ग की कुछ आलोचना का रूप आ गया है। किन्तु, वह आलोचना तत्कालीन उस ब्राह्मण और श्रमण-वर्ग की है, जो अपने ऊँचे आदर्शों से गिर कर स्वय पथ-भ्रष्ट होगया था और दूसरों को भी पथ-भ्रष्ट कर रहा था। समष्टि रूप से किसी वर्ग-विशेष अथवा जाति-विशेष की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नहीं है, और न वह न्याय-सगत ही है। महा-श्रमण महावीर का दर्शन वर्गवाद की भावनाओं से ऊपर उठकर सत्य के विश्लेषण करने की सप्राण प्रेरणा प्रदान करता है, अतएव तत्कालीन सत्य स्थिति का चित्रण करने के लिए ही कुछ पृष्ठों पर लेखनी बलात् आलोचनाओं के भँवर में चली गई

है। उस आलोचना के प्रकाश मे पाठक तत्कालीन स्थिति-परिस्थिति का सही अंकन कर सकेंगे—ऐसा विश्वास है।

आशा है, यह लघु प्रयास महाप्राण महावीर के जीवन की उदात्त भावनाओ को हृदयंगम करने की दिशा मे 'क, ख, ग' सिद्ध होगा।

—और किसी प्रतिभाशील मन-मस्तिष्क में उन्हे और अधिक विराट् रूप देने की सजीव प्रेरणा प्रदान करेगा।

—सुरेश मुनि

# अभिमत

'सन्मति-महावीर' अपने ढंग की एक निराली ही पुस्तक है। निराली इस अर्थ मे, कि उसकी भाषा नयी है, मनोहारिणी है, भावाभिव्यक्ति सुन्दर और सरस है—और इस सब से बढ़कर है, उसकी शैली की अपनी विशेषता। व्यक्ति पढ़ता रहे या सुनता रहे, ऊबेगा नहीं। जीवन-चरित होते हुए भी इस में कहानी की सरसता और उपन्यास की मधुरिमा पाठक पा सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक से पूर्व भी भगवान् महावीर के अनेक जीवन-चरित प्रकाश मे आ चुके है? उन मे बहुत-से तो पुरानी शैली के होने से आज की जनता के मानस को सन्तोष नहीं दे पाते है, कुछ लम्बे और थका देने वाले हैं, और कुछ साम्प्रदायिक आग्रहो से भरपूर होते गए है। 'सन्मति-महावीर' को आप तथाकथित दोषों से मुक्त पा सकेंगे—ऐसा मै अधिकार की भाषा मे कह सकता हूँ।

'पूर्व-रग' मे अतीत भारत का चित्रण, 'जीवन-झाँकी' मे वैराग्य-हिमगिरि महावीर का अनेक ओर से अनेक प्रकार का छवि-दर्शन और 'धर्म-देशना' मे ज्ञान की गंगा, दर्शन की सरस्वती और चरित्र की यमुना अपने-अपने मार्गों से मन्द-मन्द प्रवाहित होती हुई—मोक्ष-महासागर मे एकाकार, एकमेक हो जाती हैं। तीनो प्रकरण अपने-आप मे भिन्न होते भी एक जैसे

प्रतीत होने लगते है। और यही लेखक का अपना मौलिक कल्पना-चातुर्य पुस्तक के पृष्ठों से अनावृत होता रहता है।

लेखक के विषय मे क्या कहूँ ? प्रस्तुत पुस्तक स्वयं उसका एक परिचय है। वह लेखक है, विद्वान है, विचारक है, और इस सब से बढ़कर है, वह सफल प्रवक्ता। प्रकृति ने सब गुणो का एक ही स्थान पर सम्पात कर दिया है। भविष्य मे, लेखक अपने इन समस्त गुणों का उत्तरोत्तर विकास कर के समाज की अधिकाधिक सेवा करे, इसी मगल कामना के साथ विराम लेता हूँ।

—चन्दन मुनि

## विषयानुक्रमणिका

## धर्म-देशना

सन्मति-सन्देश

# दिग्दर्शन

साहित्य का एक रूप जीवन-चरित भी है। उससे चरित-नायक के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। चरितनायक के भावो और विचारो का विशदीकरण ही वस्तुतः उसके व्यक्तित्व का परिचय है। इसी दृष्टि से साहित्य मे जीवन-चरित का एक विशिष्ट स्थान माना गया है। एक विचारक के मत मे, मनुष्य को पहिचानने के लिये साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जीवन-चरित ही अधिक स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण सहायता दे सकता है। मनुष्य के गुण यथार्थ रूप मे जीवन-चरित से ही प्रकट होते हैं। जो घटनाएँ उस पर घटती हैं, तथा जो उपाय वह काम मे लाता है—वे सब अनुभव हमे उसके जीवन-चरित मे सहज ही मिल जाते हैं और हम उनसे बहुत-कुछ लाभ उठा पाते हैं।

जीवन-चरित क्या है? किसी भी महापुरुष के दीर्घकालिक अनुभवों की महानिधि। विकट संकट के अवसर पर मनुष्य को क्या करना चाहिए? किस प्रकार वह अपने जीवन की उलझी समस्याओ को सुलझाए? किस समय कैसी वाणी बोले? किस पद्धति से वह अपने कर्तव्य-कार्यों को करे? आदि प्रश्नो का समाधान किसी भी महापुरुष के जीवन-चरित को पढ़ने से सहज ही मिल जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'सन्मति महावीर' भी एक लघुकाय जीवन-

चरित ही है। श्रमण भगवान् महावीर जैसे विराट् महापुरुषो का विराट् जीवन एक लघुकाय पुस्तक मे कैसे समा सकता है? भास्कर के विश्व-व्यापी आलोक को एक पक्षी अपने घोंसले मे बन्द करने का गर्व कैसे कर सकता है? फिर भी वह अपने घोसले के अन्धकार को तो दूर भगा ही देता है। गगा के अनन्त जल-कणों को कौन एक घट मे भर रखने का अभिमान करेगा? फिर भी वह अपनी तृष्णा को शान्त तो कर ही सकता है।

प्रस्तुत जीवन-चरित के सम्बन्ध मे भी यही बात है। भगवान् महावीर का लोक-प्रमाण जीवन एक पुस्तक मे कैसे बन्द किया जा सकता है? फिर भी यह कहने मे किसको क्या सकोच है, कि लेखक ने अपनी यथाशक्ति और यथामति, अपनी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम के "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" चढ़ा कर उस विराट् पुरुष की भाव-पूजा करने में अपने लोभ का परिचय नहीं दिया है। अनेक प्रसगो पर वह भाव-प्रवण होकर कवि की भाषा मे बोलने लगता है? कही पर वह अपने आराध्यदेव को क्रान्तिकारी के रूप में चित्रित करने के प्रयत्न में स्वयं भी क्रान्तिकारी के रूप मे दृष्टिगोचर होने लगता है। कहीं पर उसकी कलम शान्तरस की सरिता का उद्गम बनती है, तो कभी क्रान्ति की ज्वाला उगलने लगती है। लेखक अपने चरित-नायक को विराट् महापुरुष कह कर ही सन्तोष नहीं पाता, वह उसे,—"वीरात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" कह कर ही सन्तोष पाता है।

अभिनव भावो को अभिव्यञ्जित करने मे, भाषा को चुटीली बनाने मे और शैली को सरस बनाने मे लेखक पटु है। जब लेखक किसी गम्भीर तत्त्व का प्रस्फोटन करने मे तत्पर होता है, तो उसकी लेखनी भाषा मे प्रौढ़त्व प्रकट करने लगती है। अन्यथा वह अपने सहज स्वाभाविक रूप मे प्रवाहित सरिता की तरह मन्द-मन्द बहती जाती है। भाव, भाषा और शैली—त्रिवेणी सगम संस्तुत्य है।

लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को तीन वर्गों मे विभक्त किया है। पूर्व-रग, जीवन-झाकी और धर्म-देशना। पूर्व-रंग मे लेखक ने महावीर से पूर्वकालिक समाज, देश, धर्म और संस्कृति का परिचय दिया है। जीवन-झाकी मे वह चितेरा बनकर अपनी कलम-कूँची से अपने आराध्यदेव को विभिन्न शब्द-चित्रो मे चित्रित करता है और धर्म-देशना मे वह अपने आराध्यदेव के अनुभवो को सिद्धान्त-रूप मे आलेखित करता है।

सन्मति महावीर ने अपने जीवन मे त्याग, वैराग्य और संयम की कितनी कठोर साधना की थी। क्षमा, दया, करुणा, प्रेम और मैत्री का किस प्रकार प्रचार एव प्रसार किया है। कोमल पुष्प-शैय्या पर सोनेवाला राजकुमार किस प्रकार हँसता-हँसता नुकीले कांटों के मार्ग पर चल पड़ता है। भोग-विलास से ऊपर उठ कर त्याग और तपस्या के लोक-कल्याणी मार्ग का सकेत करता है। भगवान् महावीर के जीवन से ये ही सब बातें सीखने को मिलती है।

'सन्मति' महावीर का ही नाम है। परन्तु इस नाम का प्रचार दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित था। महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन ने तो इस पर एक विशालकाय ग्रन्थ ही लिख दिया—'सन्मति तर्क।' लेखक भी प्रभु के उसी नाम से आकर्षित होकर अपनी पुस्तक का नाम 'सन्मति' रखने की अभिलाषा रखता है, परन्तु साथ मे वह भगवान् के लोकव्यापी नाम का लोभ संवरण नहीं करता। अत पुस्तक का पूरा नाम सन्मति-महावीर है। आशा है, लेखक भविष्य मे फिर कोई नयी कृति प्रस्तुत करेगा।

जैन-भवन,<br>
लोहामण्डी, आगरा<br>
ज्येष्ठ-दशहरा,<br>
११ जून, १९५४।

—विजयमुनि, शास्त्री,<br>
'साहित्यरत्न'।

# सन्मति महावीर

# पूर्व रंग

## एक चिरन्तन सत्य

इतिहास की कसौटी पर परखा हुआ यह एक चिरन्तन सत्य है कि ससार मे जब पापाचार, दुराचार, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, अधर्म धर्म का परिधान पहिनकर जन-गण-मन को भुलावे मे डाल देता है, धार्मिक मच पर भी असत्य, अन्याय, शोषण, उत्पीडन एव स्वार्थपरता का बोल बाला हो जाता है, जीवन के उच्चादर्शों को भूलकर मानव पार्थिव एषणाओ की भूल-भुलैया मे फँस जाता है, जन-जीवन मे दैवी भावनाओ के स्थान पर आसुरी भावनाएँ अपना पजा जमा लेती है, मानवता के नाम पर दानवता का नग्न ताण्डव होने लगता है, तब कोई महान् आत्मा, सोई हुई मानवता के भाग्य जगाने के लिए, भूले-भटके

रग चढ़ा देना, उनके वायें हाथ का खेल था।[1] 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' जैसे गर्हित एव थोथे सूत्र गढ़ लिये गये थे। स्वर्ग का रंगीन प्रलोभन जन-मन के समक्ष खडा करके यज्ञो मे खुले आम पशु-वध का दुश्चक्र तेजी से चल रहा था। लाखो निरीह पशुओ की लाशे यज्ञो की बलिवेदी पर छटपटा रही थी।[2] भारत के इस छोर से उस छोर तक जात-पात के पचडे को

---

१—*विश्रब्ध ब्राह्मण. शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।*
*न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्व भर्तृहार्यधनो हि स. ॥*
—मनु-स्मृति ८/४१७

—ब्राह्मण नि संकोच होकर शूद्र का धन ले ले, क्योकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं। उसका सब धन उसके स्वामी (ब्राह्मण) का ही है।

२—*"यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्या. प्रशस्ता मृगपक्षिण"*

—ब्राह्मण को प्रशस्त पशु और पक्षियो का यज्ञ के लिए वध करना चाहिए।

*यज्ञार्थं पशव· सृष्टा, स्वयमेव स्वयम्भुवा ।*
*यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवध. ॥*

—सब यज्ञों के ऐश्वर्य के लिये स्वय ब्रह्मा ने पशुओं को यज्ञ के लिए ही बनाया है। अत यज्ञ में होने वाली हिंसा भी अहिंसा ही है।

*या वेदविहिता हिंसा, नियताऽस्मिंश्चराचरे ।*
*अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥*
—मनु-स्मृति ५/२२-३९-४४

—इस चराचर जगत् में वेदविहित हिंसा को अहिंसा ही समझना चाहिए, क्योंकि वेद से ही धर्म का निर्णय होता है।

लेकर विषमता एवं भेदभाव का नगा नाच हो रहा था। मातृ-जाति को सामाजिक तथा धार्मिक सभी तरह के अधिकारो से सर्वथा वंचित कर न्याय और नीति का गला घोटा जा रहा था।[1] प्रत्येक ईंट-पत्थर प्रत्येक नदी-नाला देवता के नाम पर पूजा पा रहा था और अज्ञान जन-वर्ग अपनी गौरव-गरिमा को भूलकर दीन-हीन बना हुआ, इनके आगे अपना मस्तक रगड़ता फिर रहा था। सार्वजनीन समता एवं मानवीय भ्रातृत्व का कोई मूल्य न था। ब्राह्मण को ब्रह्ममुख, सब प्राणियो मे श्रेष्ठ तथा जगद्‌गुरु कहकर जातिगत एवं जन्मगत पवित्रता को खाद पहुँचाई जा रही थी। शूद्रो को नीच, अधम एवं नृशंस समझकर उनकी छाया तक से परहेज किया जा रहा था। असत्य, कपोल-कल्पना व अहंभाव की खोखली नींव पर जातीयता को खड़ाकर

---

१—"*अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना*"

वशिष्ठ-स्मृति ५/१

—नारी किसी भी स्थिति मे स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है, क्योंकि वह पुरुष-प्रधान है अर्थात् उस पर पुरुष का स्वामित्व है।

"*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्यु पापयोनय.*"

—गीता ९/३२

—स्त्रिया, वैश्य और शूद्र ये सब पाप-योनि हैं, पाप-जन्मा हैं।

मानवता के साथ क्रूर अट्टहास किया जा रहा था[१] आचार के स्थान पर जातीय श्रेष्ठता का डिंडिम नाद गूंजरहा था[२] ज्ञान का अधिष्ठाता ब्राह्मण ज्ञान-सेवा के मार्ग से च्युत होकर स्वार्थवाद की अन्धेरी गलियो मे भटक रहा था। वह भूला

---

१—न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्॥
यश्चास्योपदिशेद्धर्मं, यश्चास्य व्रतमादिशेत्।
सोऽसवृतं तमो घोरं सह तेन प्रपद्यते॥

—वशिष्ठ-स्मृति १८/१२-१३

—शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न होम से बचा हुआ भाग और न धर्म का उपदेश ही देना चाहिये। यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश देता है, तो वह शूद्र के साथ असवृत नामक अन्धकारमय नरक में पड़ता है।

दुःशीलोऽपि द्विज पूज्यो, न शूद्रो विजितेन्द्रिय।
क परित्यज्य दुष्टाङ्गा दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥

—पाराशर-स्मृति ८/३२

—ब्राह्मण दुश्चरित्र हो, तब भी पूज्य है और शूद्र जितेन्द्रिय होने पर भी पूज्य नहीं, क्योंकि कौन ऐसा मूर्ख है, जो दुष्ट गौ को छोड़कर सुशीला गधी को दुहेगा?

२—अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवत महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते॥

और भटका हुआ ब्राह्मण स्वय तो अन्धकार में जा ही रहा था, पर साथ मे जन-वर्ग को भी अपने बुद्धि-बल से अन्धकार की ओर ले जा रहा था। पग-पग पर रूढ़िया, कुप्रथाएँ और कुरीतियाँ मनुष्य के गले का हार बनी हुई थी। दाये-बाये सब ओर पाखण्ड, स्वार्थ-लोलुपता एवं पुरोहित-वाद की आँधियाँ घुमड़ रही थी। भारत के क्षितिज पर एक घना अन्धेरा छाया हुआ था।

उधर, जैन श्रमणो की पुराकाल से चली आने वाली महान् परम्परा भी अपने अस्तव्यस्त रूप मे चल रही थी। उसकी ज्ञान की ज्योति इतनी मन्द पड चुकी थी कि श्रमण भी स्वय यह महसूस कर रहे थे कि हम सब अन्धकार मे भटकने वालो को कौन महापुरुष ज्ञान का महाप्रकाश दिखायेगा ? लोक मे चारो ओर फैले हुए इस सघन अन्धकार मे कौन महाज्योति अपने ज्ञान

---

एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणा पूज्या, परम दैवत हि तत् ॥

—मनु-स्मृति ६/३१७-३१८-३१६

—जैसे अग्नि, चाहे सस्कारयुक्त हो या संस्काररहीन, एक महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण भी चाहे मूर्ख हो या विद्वान्, एक महान् देवता है।

—जैसे तेजस्वी अग्नि मरघट मे मुरदो को जलाकर भी अपवित्र नहीं होती और यज्ञों मे हवन किये जाने पर भी वृद्धि को प्राप्त होती है, वैसे ही ब्राह्मण निन्दनीय कर्म करने पर भी सबके पूज्य है, क्योंकि ब्राह्मण परम देवता-स्वरूप है।

के प्रकाश की किरणे फैकेगा ?[1] ज्ञान के धुधलेपन के कारण उनके आचार की दीपशिखा भी क्षीण हो चली थी। ज्ञान और आचार की मन्दता से श्रमण-वर्ग मे शैथिल्य का आ जाना स्वाभाविक था। शिथिलाचार होने से उस समय का श्रमण भी जनता का ठीक-ठीक पथ-प्रदर्शन नहीं कर पा रहा था।

संक्षेप मे, यो कहना चाहिए कि महान् आत्मा के जन्म लेने का काल-परिपाक हो चुका था। जनता का मन और मूक पशुओ की भीगी हुई आँखे किसी महामहिम विभूति के आगमन की अपलक प्रतीक्षा कर रही थी।

---

१—अधयारे तमे घोरे, चिट्ठति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण॥

—उत्तरा० २३/७५

—बहुत से प्राणी अन्धकार मे भटक रहे हैं। लोक में इन प्राणियों को कौन प्रकाश देगा ?

## क्रान्ति का सूर्य

अखिल विश्व की मानवता ने जिससे अहिंसा एवं सत्य के प्रकाश की किरणें पाईं, विचारों का वह प्रचण्ड सूर्य आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व उदय हुआ था। पुरोहितवाद जब जनता के गले से लिपट कर उसे डसना चाहता था, तभी वायुमण्डल में 'मानव-मानव' एक, अहिंसा, सत्य और प्रेम सबका धर्म', महावीर का यह दिव्य-मन्त्र गूंज उठा। सत्य पर कालिमा ने जब अपनी स्याही पोत दी थी, तभी सत्य की आवाज़ को बुलन्द करने वाली उस महान् आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म-कर्म जब दूषित हृदय के प्रकटीकरण-मात्र रह गये थे, तभी मानव-प्राणों में शिवत्व का संचार करने वाली वह अलौकिक आभा फूट पड़ी। भूला और भटका हुआ ब्राह्मण-वर्ग जब अपनी

सत्ता एवं नेतृत्व के उन्माद मे आकर 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' के मत-कल्पित शास्त्र की पैनी धार पर मानवता को रेत रहा था, समाज रूढ़िवाद के फंदे में फँसकर रसातल की ओर जा रहा था, नारी-जाति दूषित भावनाओं के बवंडर मे पड़कर अपनी अस्मत की धज्जियाँ उड़ा रही थी, तभी 'सत्यं, शिव, सुन्दर' का भव्य सन्देश लेकर महावीर की दिव्य आत्मा धरतीतल पर मनुष्य के रूप मे आई।

उस महान् आत्मा ने, अपने दिव्य सन्देश द्वारा अवरुद्ध मानसिक जडता को झकझोर कर विशुद्ध मानवता का पाठ पढ़ाया। धार्मिक सिद्धान्तों मे लगे जंग को हटाकर उनमे नव-जीवन का सचार किया। निडरतापूर्वक पुरोहितो के काले कारनामों की पोल खोली। अहिंसा, सत्य और समानता की मूलभित्ति पर जीवन के महत्त्व को खडा करने के लिए अपना जीवित आदेश-सन्देश दिया। तत्कालीन समाज के जाति-भेद-सर्प को 'मानव-मानव एक' के साम्यमूलक मन्त्र से नष्ट करने की क्रिया बतलाई। मानव-समाज को पतनोन्मुख करने वाले पुरोहितों का भडाफोड किया। समाज की छाती पर मौज से क्रीड़ा करने वाले धर्म के ठेकेदारो के नारकीय जीवन की जिसने भरसक भर्त्सना की—ऐसा था महान् मगध की पुण्य भूमि पर जन्म लेने वाला वह युग-पुरुष, जिसे दुनिया 'सन्मति-महावीर' कहती है।

# जीवन-झाँकी

## जन्म कब और कहाँ ?

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले भारत मे मगध और विदेह के राज्य बड़े ही बलशाली एव सुगठित थे। मगध की राजधानी राजगृह थी और विदेह की राजधानी वैशाली। वैशाली नगरी का प्राचीन इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। उसकी न्याय-नीति, उसकी शासन-व्यवस्था और वहाँ के नागरिको की कर्तव्यशीलता के कारण वहा का जनतन्त्र भारतवर्ष मे आदर्श माना जाता था। यह लिच्छिवियो की प्रधान नगरी थी और यहाँ गण सत्ताक शासन था। राज्य की शासन-व्यवस्था चुने हुए नेतृत्व मे चलती थी, जो गण-राजा कहलाते थे। राजा केवल, नाम-मात्र के लिये होता था। वह शासन-सूत्र का सब काम-काज सदा गण-राजाओ की सहमति से करता था।

---

उस समय वैशाली का शासक चेटक था, जो बड़ा कर्तव्यशील और न्याय-परायण था। वह नौ लिच्छवि तथा मल्लराजाओं का अधिनायक था। इसी वैशाली के कुण्डपुर नामक ग्राम के गणराजा सिद्धार्थ के साथ चेटक की बहन तृशला का परिणय-सम्बन्ध हुआ था।

राजा सिद्धार्थ और तृशला देवी जाति से क्षत्रिय थे। दोनो ही भगवान् पार्श्वनाथ को धर्म-शासन-परम्परा के अनुगामी थे। जिस रात्रि को महावीर तृशला के गर्भ मे आए, तो तृशला ने चौदह दिव्य स्वप्न देखे। जिनका फलितार्थ ज्योतिष-पण्डितो ने यह बतलाया कि--'सिद्धार्थ के घर एक ऐसा कुल-दीपक, तेजस्वी पुत्र का जन्म होगा, जो अपने जीवन की गौरव-गरिमा और महान् आदर्शों के महाप्रकाश से विश्व के रंग-मंच को उज्ज्वल-समुज्ज्वल-महोज्ज्वल करके समस्त मानव-जगत् का कल्याण-साधन करेगा।

ईसा से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षत्रियाणी तृशला की कुक्षि से एक सुन्दर पुत्ररत्न का जन्म हुआ—यही थे हमारे सन्मति-महावीर। पुत्र-जन्म का शुभ समाचार पाकर सिद्धार्थ का रोम-रोम पुलकित हो उठा। तन-मन-नयन हर्षोत्फुल्ल हो उठे। प्रजा ने सुना, तो उसकी भी प्रसन्नता का आर-पार न रहा। वैशाली मे राजा तथा प्रजा दोनों ने मिलकर महोत्सव मनाया। जब से बालक माता के गर्भ मे आया था, तभी से कुल की सुख-समृद्धि और मान-प्रतिष्ठा मे दिन दूनी रात चौगुनी

वृद्धि हुई थी, अत बालक का नाम उसके गुणो के अनुसार 'वर्धमान' रखा गया। उनकी बहन का नाम सुदर्शना था और नन्दीवर्धन उसके ज्येष्ठ भ्राता थे, जिनका पाणिग्रहण राजा चेटक की सुपुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था।

## बाल्यकाल की विशेषताएँ

वर्धमान का लालन-पालन एक राजकीय वैभवपूर्ण वातावरण मे हुआ। उनका शरीर सुगठित, बलिष्ठ तथा कान्तिमान था और मुखमडल अत्यन्त तेजस्वितापूर्ण। उनका हृदय अत्यन्त कोमल और भावनाये बडी ही उदात्त थी। बचपन से ही वे उदार प्रकृति के धनी थे। राजकुमार होते हुये भी उनके जीवन के किसी भी मोड पर राजकीय वैभव का जरा भी अभिमान न था। सर्व-साधारण से अत्यन्त स्नेह के साथ मिलकर रहने की उनकी उदार मनोवृत्ति समत्व की मौलिक भावना का सजीव चित्र उपस्थित करती थी।

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बालक वर्धमान ज्यो-ज्यो बढते जाते थे, उनकी वीरता, धीरता, योग्यता एवम् ज्ञान-गरिमा

से लोग परिचित होते जाते थे। अपने विवेक, विचार, शिष्टता और गाम्भीर्य आदि अनेक अनुपम गुणों के कारण वे अपने समवयस्क मित्रों को ही नहीं, प्रत्युत बड़े-बूढ़ो को भी चकित कर देते थे। उनके मुखारविन्द से जीवन की गहन अनुभूतियों की बात सुनकर समझदार वृद्ध पुरुष भी अवाक् एवं हतप्रभ रह जाते थे। उनके बुद्धि-वैभव तथा सहज प्रतिभा से जन-मन चमत्कृत हो उठता था। सचमुच अपनी कुशाग्र बौद्धिक चेतना, चमत्कारपूर्ण प्रतिभा तथा दूरदर्शितापूर्ण अनुभूतियो से वर्धमान ने परिजन-पौरजन—सबका मन मोह लिया था।

## वर्धमान से महावीर

वर्धमान बचपन से ही धीर-वीर-गम्भीर प्रकृति के धनी थे। निर्भयता की साकार मूर्ति थे। भय की भयानक भावना उनको तनिक भी छू तक न गई थी। उनकी बाल्यावस्था की वीरता-भरी एक घटना इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आज भी चमक रही है।

एक बार वर्धमान अपने हमजोली संगी-साथियों के साथ एक वृक्ष के समीप खेल रहे थे। साथियों की दृष्टि सहसा वृक्ष की जड़ की ओर गई, तो देखा वृक्ष की जड़ से लिपटा एक विकराल सर्प फुंकार रहा है। इतना देख सब साथी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। महावीर ने दृढता के साथ सबको सान्त्वना दी और नागराज को उठाकर एक ओर छोड आये।

इसी प्रकार की अन्य संकटापन्न स्थितियों में भी अपने निर्भयभाव और वीरता का सक्रिय परिचय देने के कारण वे 'महावीर' के नाम से प्रसिद्ध होगये—ऐसी श्रुति-परम्परा है।

वस्तुत महावीर, महावीर थे; शरीर से ही नही, शरीर से भी बढ़कर आत्मा से। शरीर उनका सब तीर्थङ्करों मे छोटा था, किन्तु आत्मा महान् थी—इतनी महान् कि उसकी महत्ता मे उन्होने राज्य-सिहासन और सुख-वैभव को भी ठोकर लगा दी। संयम-साधना की जलती हुई पगदण्डी पर चलकर वे कर्मों से जूझ पड़े। जीवन के सघर्षो, द्वन्द्वो और वासना-विकारो पर विजय प्राप्त कर वे सच्चे आत्म-विजेता बने। जीवन की इसी ऊर्जस्वल एव व्यापक अनुभूति में महावीर के महावीर बनने का रहस्य अन्तर्निहित है।

## गृहस्थ-जीवन में प्रवेश

सन्मति महावीर बाल्यकाल से ही चिन्तनशील और गंभीर प्रकृति की साकार मूर्ति थे। वे अपने चारों ओर की स्थिति-परिस्थिति एवं वातावरण पर बड़ी गम्भीरता से चिन्तन-मनन करते और घण्टों ही उस चिन्तनिका में डूबते-उतराते रहते थे। वे विचारते कि—"धर्म के नाम पर कितना अन्धकार फैलाया जा रहा है! आज का धर्माधिकारी ब्राह्मण तथा श्रमण केवल पोथियों के ज्ञान में ही बन्द हो गया है! ज्ञान जब सत्कर्म से शून्य हो जाता है, तो वह प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार ही अधिक फैलाने लगता है। कर्म का अर्थ सदाचार तथा नैतिक जीवन भुला दिया गया है और उसके नाम पर केवल अर्थशून्य, शुष्क एवं जड़ क्रियाकांड जनता के मत्थे मढ़ा जा रहा है। जनता भी

जीवन की सच्ची दिशा से भटक कर मिथ्या विश्वासों और रूढ़ियों के बन्धनो में बुरी तरह जकड़ी हुई है। उच्च वर्ग अपनी जातीय श्रेष्ठता के अभिमान में शूद्रों के साथ अन्याय तथा अनीति करने पर तुला हुआ है। "शोचनाद् रोदनाद् शूद्र"—शूद्र के भाग्य मे शोक करना, रोना ही लिखा है—शूद्र की यह कैसी दुर्भाग्यपूर्ण व्याख्या ? मानवता के साथ यह कैसा नग्न उपहास !

.... . .. . क्या यह जीवन महलों और सोने के सिंहासनों मे बन्द होने के लिए है ? नहीं, कदापि नहीं। यह खेल तो अनन्त-अनन्त बार खेला है। पर, इससे जीवन का क्या हित साधन हुआ है ? जीवन के महान् पथिक का उद्देश्य श्रान्ति-भवन में टिक रहना नहीं है। मुझे माया के नागपाशों को तोड़कर अन्धकार से प्रकाश की ओर चलना होगा और जीवन के क्षुद्र घेरों मे बन्द तथा अन्धेरी गलियों मे भटकते जगत को प्रकाश-पथ दिखाना ही होगा . . ।"

राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला पुत्र को इस चिन्तनशील मुद्रा मे देखते, तो विचार में पड जाते, सोचने पर मजबूर होजाते कि कहीं राजकुमार किसी दूसरी दिशा में न बह जाय ! फलतः माता-पिता ने जितनी जल्दी हो सके, उन्हें परिणय-बन्धन में बाँध देना ही उचित समझा। माता-पिता के ममता-भरे आग्रह ने महावीर की मौन-सम्मति पर विजय पा ली और समरवीर नामक एक महासामन्त की सुपुत्री यशोदा के साथ उनका विवाह संस्कार सम्पन्न होगया। प्रियदर्शना नामक उनके एक पुत्री भी हुई।

## भोग में मन न रम सका

महावीर राजकुमार थे। ससार का सुख-वैभव और भोग-विलास की सामग्री उनके चारों ओर बिखरी पडी थी। माता-पिता का वात्सल्य स्नेह-अर्पण कर रहा था। बड़े भाई नन्दीवर्धन का अप्रतिम भ्रातृत्व आदर्श का प्रतीक बना हुआ था। दास-दासी सेवा में हाथ जोड़े तत्पर रहते थे। पत्नी के रूप मे यशोदा चरण-चेरी बनी हुई थी। दुःख, अभाव, कष्ट क्या होता है—स्वप्न मे भी कही पता न था। एक ओर था समृद्ध परिवार का विलासमय जीवन और दूसरी ओर थी महावीर की वैराग्यपूर्ण वृत्ति-प्रवृत्ति। विलासमय वातावरण उनकी चिन्ताशील प्रवृत्ति को न बदल सका। भोग की भरी-पूरी दुनिया के बीच रहकर भी महावीर की आत्मा एक तरह की अतृप्ति

का अनुभव कर रही थी। जब वे बाह्य सुख-साधनो पर दृष्टिपात करते, तो उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती—"सच्चे सुख का मार्ग तो कोई और ही है। यदि यह वैभव-विलास सुखदायी होता, तो आज ससार का जीवन दु:ख की जिन्दा तसवीर क्यों होता? भारत का सामाजिक, नैतिक एव धार्मिक पतन उन्हे बेचैन किये हुए था। जब वे अपने चारो ओर की दुनिया पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालते, तो देखते कि ससार मे सब ओर एक गहरा अन्धकार परिव्याप्त है और मानव-समुदाय अपनी क्षुद्र वासनाओ की तृप्ति के फेर में पड़कर दूसरे प्राणियो के प्राणों के साथ खिलवाड कर रहा है। धर्म के नाम पर खुले आम हिंसा-राक्षसी का नगा नाच हो रहा है; जिससे सर्वत्र हाहाकार का आर्तनाद सुनाई पड़ रहा है। यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वार्थ का खेल खेला जा रहा है।

यह सब देखकर महावीर की जवानी विद्रोह कर उठी। उनके विचारो मे उथल-पुथल मच गई और आखिर, उन्होने दृढ़ निश्चय कर ही लिया कि—"कुछ भी हो, मुझे इस समस्त संसार से ऊपर उठना है और जगतो को भी इस दु.ख से उबारना है। ससार मे सुख-शान्ति और साम्य-भाव की गगा बहानी है। लेकिन, उसके लिए सर्वप्रथम मुझे स्वयं आत्म-बल प्राप्त करना है।"

## परिवार का स्नेहाग्रह

ससार का आकर्षण और प्रलोभन महावीर को अपने सकल्प से च्युत करने मे असमर्थ हो चुका था। भोग-विलास और वैभव-भरी दुनिया से महावीर कभी के पराङ्मुख हो चुके थे।

माता का वात्सल्य तथा पिता का प्रेम—ये दो ससार के सर्वतोमहान् वन्धन थे, जिन्होने महावीर जैसे दृढ सकल्पवान् व्यक्ति को भी अपने मनोनीत त्याग के महामार्ग पर चलने से कुछ काल के लिये रोक दिया था। माता और पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर वह संकल्प फिर बलवत्तर हो उठा।

महावीर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्धन के समक्ष विनम्र भाव से अपना वह चिर-पोपित प्रस्ताव रखा, जिसकी पूर्ति के

लिये महावीर गृहस्थ-दशा में ही अनेक वर्षों से अन्त साधना कर रहे थे। सत्य-सकल्प व्यक्ति तब तक शान्त होकर नहीं बैठ सकता, जब तक उसका सकल्प सिद्धि के रूप मे परिणत न हो जाय।

नन्दीवर्धन ने जब महावीर के उस प्रस्ताव को सुना, जिसमें प्रव्रज्या अगीकार करने की अनुमति माँगी थी, तब उसे एक बड़ा आघात लगा। उनका हृदय भर आया। उन्होंने भाव-भीने तथा स्नेहार्द्र स्वर में कहा—"महावीर! माता और पिता के वियोग के आँसू अभी सूख भी नहीं पाये है, तिस पर क्या तुम भी मुझे इस स्थिति मे अकेले छोड़ जाने का सकल्प रखते हो? यह हो सकने वाला कार्य नहीं है—महावीर! तुम्हे मेरी स्थिति-परिस्थिति पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। मुझे अकेला छोड़ जाने की अपेक्षा तुम मेरे राज्य-कार्य में सहयोगी बनो—यह मेरी उत्कट कामना है।"

महावीर अपने ज्येष्ठ भ्राता की स्नेह-वाणी को बड़े ध्यान से सुन रहे थे। उन्होने विनम्र भाव से कहा—"आप अकेले कैसे हैं? यह समग्र परिवार और समस्त प्रजा आपकी सेवा में प्रस्तुत रहेगी। ऐसा कौन कार्य है, जो आत्म-बल एवं मनोबल से न साधा जा सकता हो? आपकी परिस्थिति की अपेक्षा मुझे अपनी ही मन.स्थिति पर विचार कर लेने दो न? दूसरों पर राज्य करने की अपेक्षा मुझे अपने-आप पर ही राज्य करना सीखना है। अत. उदारमना होकर अनुमति प्रदान करें और

मै अपने मनोरथ मे पूर्णतः सफल बन सकूं—ऐसा मुझे आशीर्वाद भी प्रदान करें।"

पर, अभी बाधाओं की परम्परा का अन्त कहाँ? देवी यशोदा अपनी प्रिय पुत्री प्रियदर्शना के साथ आ पहुँची और विनत स्वर मे बोली—"आर्य! आप आज किसी गम्भीर विचार मे लीन है? पर, क्या अभी आपने प्रव्रज्या-ग्रहण के दीर्घ विचार को छोडा नही है? नाथ! यह कैसे हो सकता है, कि आप हमे छोड़कर चले जायें? शशि के बिना निशा कैसे सुशोभित हो सकती है? आपके जाने का विचार ही हमे व्याकुल बनाये डालता है। आप चले गए, तो हमारी क्या दशा होगी? जल के अभाव मे होनेवाली वेदना का अनुभव मछली ही कर सकती है! और इधर नन्हीं-सी प्रियदर्शना भी अपने पिता के उत्तरीय वस्त्र के पल्ले को पकड़कर अपनी सहज बालभाषा मे कहती है—"मै, कभी न जाने दूँगी, आपको!"

महावीर अपनी मौन-मुद्रा को भंग करते हुए शान्त और गम्भीर स्वर मे बोले—'देवी! तुम क्यो व्यर्थ ही चिन्ता करती हो? तुम्हे ससार मे किस वस्तु की कमी है? मैं अपनी स्मृति के रूप में प्रियदर्शना को तुम्हें सौंप ही चला हूँ। मुझे अब अपना भी काम करने दो। मोह, माया और ममता के ये बन्धन मुझे अप्रिय लगते हैं, खलते हैं। मुझे इन्हे तोड़ना है और भला यह सब प्रव्रजित हुये बिना कैसे हो सकता है?"

महावीर की बहिन सुदर्शना और भावज भी वहाँ आ

पहुँची। उन्होने भी उसी भाषा और स्वर मे कहा—"यह परिवार तुम्हारे बिना कैसे रह सकता है? तुम्हे धर्म की साधना करनी ही है, तो यही क्यो नही कर लेते? हम तुम्हारी साधना मे किसी प्रकार भी विघ्न नही डालेगे। पर, हमे छोड़कर जाने का तुम्हारा विचार हमे बड़ी पीड़ा देता है।"

महावीर ने अन्तर्विचारो मे गहरी डुबकी लगा ली। वे अपने-आप मे ही अपना मन्थन करने लगे। यह स्नेह-बन्धन कितना बलवान् है? इसे तोड़ने का जितना प्रयत्न करता हूँ, उतना ही अधिक वह दृढ़ होता जा रहा है। भोगावली कर्मों का प्राबल्य प्रतीत होता है।

विचार-समाधि से जागृत होकर महावीर ने एक बार सबको स्नेहमयी दृष्टि से देखा और मन्द स्वर मे कहा—"तुम्हारा यह स्नेह, यदि स्नेह के रूप मे रहता, तो ठीक था। पर, उसने मोह और ममत्व का रूप ले लिया है। ज्येष्ठ भ्राता की और तुम्हारी जब तक अनुमति न मिले, तब तक मैं तुम सब के मध्य मे हूँ।"

परन्तु दो वर्ष और गृहस्थ मे रहने का आश्वासन देने के बाद उनकी दिनचर्या मे एक महान् परिवर्तन आ गया। भोग-विलास के वातावरण से सर्वथा अलग-थलग, एकान्त-सेवन और आत्म-मन्थन मे ही उनका सारा समय बीतने लगा। भोग की दुनिया के बीच आसन जमा कर भी वे योग-साधन मे सलग्न रहे। गृहस्थ-जीवन मे ही तपस्वियो-जैसी उग्र साधना चलती रही। घर छोडने के बाद जगल की कठोर तपस्या दूर

की वात है। पर, उनकी यह दो वर्ष की तपस्या कम महत्व की चीज नही है। काम की यही चीज है। जीवन की इस तसवीर में महावीर की महावीरता का साक्षात्कार होता है। नये रक्त मे यही प्राण-स्पन्दन डाल सकती है, माया की शीतल छाया में सोते हुओ को यही जगा सकती है, जीवन के अग्नि-पथ पर दौड लगाने के लिए अन्तर्मन में सच्ची प्यास यही पैदा कर सकती है, जीवन में कुछ कर दिखाने के लिये अभिनव स्फूर्ति और नव चेतना की विद्युत-लहर यही उत्पन्न कर सकती है।

## महाभिनिष्क्रमण

महावीर के अन्तर्मन में बचपन से ही जो वैराग्य का बीज विद्यमान था, वह धीरे-धीरे उनकी मानस-भूमि में जागता जा रहा था। भाई की आज्ञा को बहुमान देते हुए वे दो वर्ष तक घर में रहे, किन्तु सर्वथा अनासक्त भाव से। संसार-वासना से बिल्कुल अछूते। घर के किसी कार्य में उन्हें तनिक भी रस न रह गया था। वैराग्य का बीज जो पनप रहा था। उनके अन्तर्जगत् में दिन-रात एक समुद्र-मन्थन हो रहा था। नन्दीवर्धन ने उन्हें चिन्तन और वैराग्य-रस में निमग्न देखा, तो वे भी सोचने लगे—"अब इसका मन संसार में नहीं रमता, तो इनके मार्ग में अवरोधक बन कर खड़े होना कथमपि न्याय्य नहीं है। राजकुमार सिद्धार्थ [बुद्ध] का सुशील, सुन्दरी.

विदुषी और खरी सगिनी यशोधरा और प्यारे मनमोहन अबोध राहुल को आधी रात सोते छोड कर चल देना हमें यह स्वीकार करने के लिये विवश कर देता है कि वे आँसुओं का सामना करने में निर्बल रहे होगे। पर, महावीर को तो उनका मुकाबिला करना ही पड़ा। घर की उनकी सयम-साधना, घोर तपश्चर्या, चिन्तनशीलता ने नन्दीवर्धन, गृहपत्नी यशोदा और सुपुत्री प्रियदर्शना आदि समस्त परिवार के मन पर काबू पा लिया। सब को अपने अनुकूल कर लिया। अन्तिम एक वर्ष मे महावीर मुक्त कर से निरन्तर दान की वर्षा करते रहे। उन्होने अपना सब-कुछ, दीन-हीन जनता को अर्पण कर ससार के समक्ष दान और त्याग का एक मूर्तिमान् आदर्श खड़ा किया।

भारतीय इतिहास मे मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। इसी दिन सन्मति-महावीर ने इठलाती हुई तरुणाई, भरा-पूरा घर-बार, विस्तृत राज-पाट सब को ठुकरा कर स्व-पर कल्याण के लिए सयम तथा तपस्या के महापथ पर दृढ़ता के साथ अपने कदम आगे बढ़ाये थे। श्रमण-सस्कृति की भाषा मे इसे ही महावीर का 'महाभिनिष्क्रमण' कहते है।

## पहले आत्म-शोधन

प्रश्न हो सकता है और होना ही चाहिए कि महावीर ने संयम, त्याग-तपस्या का मार्ग पकड़ते ही धर्म-देशना की अमृत गंगा क्यों न बहाई ? दीक्षा ग्रहण करते ही धर्मोपदेश के द्वारा जन-मन को क्यों नहीं जगाया ? विचार-चिन्तन की गहराई में पैठने से यह तथ्य दिन के उजेले की तरह साफ हो जाएगा कि "महावीर आत्म-साधना की राह के सच्चे राहगीर थे। साधारण साधकों-जैसे उनके उथले विचार न थे कि जो कुछ भी मन में आया, झटिति उगल दो, करने-धरने को कुछ नहीं। उनकी यह गहरी निष्ठा थी कि पर-सुधार से पहले आत्म-सुधार करना अनिवार्य है। जब तक साधक आत्म-शोधन के द्वारा अपनी दुर्बलताओं और विकारों का पूर्णतः परिमार्जन न करले तब

तक कोरा उपदेश एक विडम्बना है। आत्म-सुधार के विना उस में वल नहीं आ सकता। जब तक किसी वात को पहले अपने जीवन की प्रयोगशाला में न ढाल लिया जाय, तव तक उसका उपदेश, मात्र वाणी का अलकार है। कथनी और करनी का द्वैत महावीर को कतई पसन्द नहीं था।" अत सर्वप्रथम वे आत्म-शोधन में जुट गये और आत्म-विजेता वनने के लिए मन में एक महान् संकल्प किया "जब तक केवल ज्ञान का महाप्रकाश न पा लूँगा, तव तक जन सम्पर्क से अलग-थलग एकान्त शान्त वनों में आत्म-साक्षात्कार के लिए सतत प्रयत्नशील रहूँगा।"

## कठोर साधना के पथ पर

सिद्धि की चकाचौंध में हम साधना को भूल जाते हैं। साधना से ही सिद्धि का द्वार खुलता है। इसलिए हमें चाहिये कि जितना भी अधिक देख सकें, महावीर की साधना को देखें। महावीर बनने के बीज साधना की इसी अचिन्त्य शक्ति में विद्यमान हैं। दीपक को सूर्य, बिन्दु को सिन्धु और कण को विराट रूप देने की सजीवनी इसी साधना में अन्तर्निहित है।

अपने साधना-काल में महावीर को कष्टों और संकटों की विकट घाटियों में से गुजरना पड़ा। एक-से-एक भयङ्कर तूफान उनके आड़े आये; परन्तु वे एक वीर सेनानी की भाँति अपने ध्येय-मार्ग से एक इञ्च भी इधर-उधर नहीं हुए। उनका साधना-कालीन जीवन इतना कठोर तथा रोमाञ्चकारी है कि पढ़कर

तन-मन-नयन सिहर उठते है। न कोई परिचारक, न उपासक! मौन आत्म-मन्थन मे लीन-तल्लीन! उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्याग के उग्रतम नियमो का परिपालन! देह के प्रतिपूर्ण अनासक्ति, वन्य-जन्तुओ के प्राणापहारी उपसर्ग और अज्ञान जनता के निर्मम उत्पात! कभी पहाड़ो की चोटियो पर, कभी एकान्त गुफाओ मे! कभी शून्यागार मे, तो कभी नदी-कगारो पर उनका ध्यानावस्थित रहना, खान-पान पर अद्भुत संयम, प्रमाद पर कठोर नियन्त्रण कर वह श्रमणसिंह अप्रमत्त भाव से सतत आत्मा-लोचन मे तन्मय रहता था। शिशिर ऋतु मे हिमवात बहने के कारण जगत् के प्राणी जिससे थर्रा उठते थे, उस कड़कडाती सर्दी मे भी महावीर खुले नदी तटों पर दु सह शीत के क्रूर थपेड़ो को सहन कर आत्म-साधना की मस्ती मे झूमते रहते थे। ज्येष्ठ की तपतपाती हुई दुपहरियो मे भी—जब कि जमीन-आसमान जलते रहते थे—खुले मैदानो मे वे ध्यानस्थ खडे आत्म-मन्थन मे गहरे डूबे रहते थे। दिन को भी रात में बदल देने वाली काली—अन्धयारी घटाओ के घुमडने पर भी—जिनकी गर्जनाओं से वन का कोना-कोना कॉप उठता था—उन गिरती हुई वर्षाकालीन, जलधाराओं के बीच भी निष्प्रकम्प भाव से वृक्षों के झुरमुट मे खड़े महावीर आत्म-ज्योति का महाप्रकाश अवलोकन करते रहते थे।

आध्यात्मिक सुख की साधना में तन्मय हो रहे थे। लौकिक विभूति के नाम पर उनके पास केवल एक देव-दुष्य वस्त्र है, वह भी अव्यवस्थित रूप से शरीर पर पड़ा हुआ है, और कुछ नहीं।

गरीबी बड़ी भयंकर बला है। । इसके समान संसार में और कौन दु ख होगा ? विपत्ति का मारा हुआ, गरीबी का सताया हुआ, दरिद्रता से पिसा हुआ एक निर्धन ब्राह्मण उनके पास आता है, और अन्तस्तल मे अवरुद्ध अपनी दु ख-गाथा कहने लगता है।

"भगवन्! आज आपके दर्शन पाकर धन्य-धन्य हो गया हूँ। कब से आपकी तलाश कर रहा हूँ ? वैशाली गया, आस-पास के गाँवो और जङ्गलों को छान मारा; परन्तु कहीं पता ही न लगा। करुणानिधे ! मैं तो निराश ही हो चुका था। परन्तु, एक यात्री के मुख से ज्यो ही आपका पता चला, आशा की लुप्त होती हुई ज्योति पुनः चमक उठी।

महावीर ध्यान मे थे।

"भगवन्! आपके दान की क्या महिमा करूँ ? आपने तो दान का मेघ ही बरसा दिया। किन्तु, मैं हतभाग्य कोरा ही रहा। उन दिनों मैं दूर देशों में मारा-मारा फिर रहा था। घर आया, तो पता चला—कल्पवृक्ष सब-कुछ लुटाकर वनवासी भिक्षु हो गया है।"

महावीर मौन थे।

"भगवन् ! क्या निवेदन करूं ? आप ज्ञानी हैं, मेरी स्थिति आपसे छिपी नहीं है। जन्मतः दरिद्र हूँ, भाग्य का मारा हुआ हूँ। कभी सुख से दो रोटी भी पेट को नसीब नही हुई। और अब तो ऐसी दशा है कि घर मे अन्न का दाना तक नही। परिवार भूखों मर रहा है। अब यह डूबती नैया बचा लेना, आप ही के हाथ मे है।"

महावीर ध्यान में थे।

"दीनबन्धो ! मौन कैसे है ? ऐसे कैसे काम चलेगा ? क्या अनन्त क्षीरसागर के तट से भी प्यासा ही लौटना पडेगा ? नहीं, ऐसा नही हो सकता। मुझ दीन पर तो कृपा करनी ही पड़ेगी।"

महावीर ध्यान में थे।

ब्राह्मण के धीरज का धागा टूट चला। उसकी आँखो से आँसुओ की अविरल धार उमड़ चली। वह गिड़गिड़ाकर महावीर के चरणों से चिपट गया।

महावीर आत्म-ध्यान में लीन थे। वे अखण्ड चिन्तनधारा में बहे जा रहे थे। परन्तु, अन्तर्हृदय से करुणा का अदम्य स्रोत उमड़ पड़ा। वे ध्यान खोलकर बोल उठे :—

"भद्र ! यह क्या करते हो ? अधीर मत बनो। शान्ति रखो। जीवन के ये झमेले यों ही आते-जाते रहते हैं। इनके कारण कातर होना उचित नही।"

"भगवन् ! क्या करूँ ? जीवन भार मालूम हो रहा है। घर

का कोना-कोना भूख से हाहाकार कर रहा है। ऐसी स्थिति में शान्ति और धीरज कहाँ ?"

"भद्र ! यह ठीक है। परन्तु, रोने से भी क्या होता है ? साहस करो। जीवन के संघर्षों से वीरता के साथ युद्ध करो। मनुष्य को अपनी समस्यायें आप ही हल करनी होती हैं।"

"भगवन् ! मैं तो सब ओर से हताश, निराश हो गया हूँ। अब तो केवल आपका सहारा ही मेरा उद्धार कर सकता है। मेरे अपने करने से कुछ नहीं होगा।"

"भव्य ! तुम्हारी दशा पर मुझे दया आती है। परन्तु बता, अब मैं क्या कर सकता हूं ? दीक्षा लेते समय यदि तुम आये होते, तो मैं तुम्हारी उचित सहायता कर सकता था। अब मैं अकिंचन भिक्षु हूँ, देने को अब मेरे पास है ही क्या ?"

"भगवन् ! सुअवसर का लाभ किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। मुझ अभागे को तब पता ही न चला, आता कहां से ? आपकी करुणा-दृष्टि हो, तो अब भी क्या नहीं हो सकता ? चाहे तो रत्नों की वर्षा कर सकते हैं, सोने का मेघ बरसा सकते हैं।"

"भद्र ! मर्यादा से बाहर की बात न करो। मैं अपनी साधना पत्थर के चमकते टुकड़ों की वर्षा करने के लिये, सोने की मेघ-वृष्टि करने के लिये नहीं कर रहा हूँ। मेरी साधना तो विशुद्ध सत्य की शोध के लिये है। मैं कोई जादूगर नहीं हू, साधक हूँ।"

"भगवन् ! दारिद्र्य ने बुद्धि का विवेक नष्ट कर दिया है।

आपकी साधना जादूगर बनने के लिये नही है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु, क्या मै कल्प-वृक्ष को पाकर भी खाली हाथ लौटूँ ? आपके हाथ से कुछ भी चीज मुझे मिलनी ही चाहिये। मुझे आशा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि आपके हाथ की मिली हुई धूल भी मेरे भाग्य का वारा-न्यारा कर देगी, मेरे भाग्य की गति बदल देगी।"

ब्राह्मण फिर रोने लगा। अब की वार उसकी आंखो के आँसू करुणामूर्ति से न देखे गये। मानवता का सबसे बडा श्रद्धालु पुजारी, भला दु खी को देखकर कैसे चुप रह सकता था? मानवता की साकार मूर्ति महावीर ने करुणार्द्र होकर देव-दुष्य उतारा, और उसका आधा भाग ब्राह्मण को दे दिया।

महावीर का फिर वही आत्म-मन्थन चल पड़ा।

## प्राणशत्रु पर भी अमृत-वर्षा

साधना-पथ पर आगे बढ़ते हुये महावीर को तन-मन में सिहरन पैदा कर देने वाली कठिनाइयो की अनेक पर्वतमालाओं को पार करना पड़ा। घोर-से-घोर उपसर्ग की जहरीली घूंट को भी समभाव के मधुर सस्पर्श से अमृत बना देना, उनकी जीवन-कला का जीवित परिचय था। विरोधी-से-विरोधी पर भी उनके तन-मन-नयन से क्षमा एव वात्सल्य का अमृत-वर्षण होता रहता था।

एक बार महावीर नदी के तट पर ध्यानस्थ खड़े थे। चारों ओर जङ्गल की हरियाली लहलहा रही थी। शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर बह रहा था। महावीर नेत्र बन्द कर आत्म-लीन हो अपने-आप में अपने द्वारा अपने-आप को खोज रहे थे।

जीवन के उन नितान्त एकान्त क्षणों में वे एक सहज आत्म-रमण का अपूर्व आनन्द लूट रहे थे।

सहसा उनके समक्ष कुछ चिन्तित-सा एक ग्वाला आकर खड़ा हो गया। और बोला—"महाराज! इस जङ्गल में चरते हुए आपने मेरे बैल तो नहीं देखे?"

महावीर ध्यान-स्थिति में आत्म-विभोर हो रहे थे। अन्तर्जगत् में मौन मन्थन चल रहा था। अत उसकी बात का उत्तर भी कैसे देते? उनको मौन-मुद्रा में देखकर ग्वाला बैलों की तलाश में आगे बढ़ गया। कुछ ही देर बाद वापिस लौटकर देखता क्या है कि "बैल सन्त के आस-पास ही चर रहे हैं और वे उसी तरह नेत्र बन्द किये खड़े हैं।"

यह देखकर ग्वाला अपने-आपे मे न रह सका। उसका रोम-रोम क्षुब्ध हो उठा। वह चीखकर बोला—"बस, बस, मैं समझ गया हूँ कि तू महात्मा नहीं, दुरात्मा है। चुराने की नीयत से बैल तूने ही कहीं इधर-उधर छिपाकर रख छोड़े थे। ले देख, तुझे तेरी करनी का अभी कैसा मजा चखाता हूँ?"

इतना कह वह महावीर पर एकदम बरस पड़ा। लाठी, ढेले और पत्थरों की अन्धाधुन्ध वर्षा होने लगी। परन्तु, महावीर अपनी शान्त-दान्त स्थिति से ध्यान-मग्न रहे। न कुछ हिले-डुले और न ही कुछ बोले-चाले। उनकी इस अपार सहिष्णुता और शान्त वृत्ति पर ग्वाला आश्चर्य-चकित था। वह उनके मुख-मण्डल पर अठखेलियाँ करते हुये तपस्तेज से हत-प्रभ-सा हो

गया। गिड़गिड़ाकर महावीर के चरणों से चिपट गया, और अपनी दीन भाषा में बोला—"भगवन्! मुझ अपराधी का अपराध क्षमा कीजिये। मैं नासमझ हूँ, अज्ञानी हूँ।"

महावीर के अन्तर्हृदय के कण-कण में अकृत्रिम प्रेम का शीतल झरना वह रहा था। अपराधी और प्राण-घातक पर भी इतना वात्सल्य-भाव! महावीर का रोम-रोम सहस्त्रमुख होकर बोल रहा था—'वत्स! तुम्हें सन्मति प्राप्त हो! तुम्हारा कल्याण हो!'

## आत्मावलम्बन की ओर

महावीर की साधना अपने बल-बूते और आत्मावलम्बन के संबल पर चलती थी। अपने साधना-काल में उन पर एक-से-एक भयंकर आपत्तियों का कुचक्र चलता रहा। एक के बाद दूसरा तूफानों का झंझावात उन्हें झकझोरता रहा। उपसर्गों का बवंडर अपनी भयावनी तस्वीर लेकर साधना-पथ में रोड़े अटकाता रहा। पर मजाल, महावीर ने किसी भी क्षण सहायता के लिए दायें-बायें आंख उठाकर भी देखा हो! स्वयं सहायता मांगना तो दूर, भक्ति-भाव से सेवा में प्रस्तुत होने वालों की भी बात तक न सुनी। वस्तुतः महावीर का यह आत्मावलम्बन आदर्श और यथार्थ की सर्वोच्चता का एक सजीव रूप था।

एक बार देवराज इन्द्र महामना महावीर के चरणों में उपस्थित होकर विनम्र स्वर में बोला—"भगवन्! मैं आपका साधना-काल तूफानी संकटों से घिरा देख रहा हूँ। अज्ञान जनता आपको यन्त्रणा देती है, कष्ट पहुँचाती है। उसे नहीं पता, आप कौन हैं और क्या कर रहे हैं? प्रभो! आज्ञा कीजिये, यह सेवक सेवा में प्रस्तुत है। मानवी, दैवी एवं पाशविक किसी भी उपसर्ग को आपको छाया तक छूने न देगा। और आप सहज समाधि में शान्तिपूर्वक साधना-रत रह सकेंगे। ये अज्ञान, पामर ग्वाल आप पर चोरी का लाञ्छन लगाएँ और इस प्रकार आपको भयंकर त्रास पहुँचाएँ—भला, मुझसे यह कैसे सहन हो सकता है?"

परन्तु, महावीर ने अपनी वज्र-भाषा में कहा—"इन्द्र! मेरी सेवा का अर्थ है, मेरी रक्षा आप करेंगे! यह केवल तुम्हारा भ्रम है। अनन्त-अनन्त काल का एक महान् सत्य मैं तुम्हारे सामने रख रहा हूँ। वह यह कि कोई भी आत्म-साधक इन बैसाखियों के सहारे जीवन की महान् ऊँचाइयों को पार नहीं कर सकता। दूसरों के सहारे जीवन के मार्ग पर दौड़ नहीं लगा सकता। दूसरों के बल पर साधक आत्मा का प्रकाश पा ले—यह हो नहीं सकता। मैं भी साधक हूँ। अतएव अपना मार्ग मैं स्वयं तय करूँगा। जीवन के संघर्षों से मैं स्वयं लड़ूँगा।

और यदि कोई कष्ट देता है, तो दे। कोई आपत्ति आए, तो आए। संकटों से जूझता हुआ भी मैं आत्म-संगीत गा सकता

हूँ, मुस्करा सकता हूँ। इन कष्टो, तूफानो, आपत्तियो और उपसर्गों की बिसात है भी क्या? शरीर, इन्द्रियो तक इनकी दौड है। मिट्टी के इस पिण्ड तक इनकी पहुँच है। आत्मा तक इनकी पहुँच कहाँ? कष्टो की ज्वाला मे पड़ कर भी मेरा जीवन-सुवर्ण निखर रहा है, दमक रहा है, निर्मल एव विशुद्ध हो रहा है।

"भगवन्! आपका कथन सत्य है। परन्तु सेवक का हृदय तो नहीं मानता। आप दुर्बल नही है, आप कष्टो से घबराना नही जानते, आपको सहायता की अपेक्षा नही—यह मै स्वीकार करता हूं। किन्तु सेवक का भी तो कुछ कर्तव्य है? सेवा मे रह कर मै आपका कष्ट नही, अपना कष्ट मिटाना चाहता हूँ। कर्तव्य-पालन से मेरे हृदय का शूल निकल जायगा"—इन्द्र ने पुनर्वार नम्र निवेदन करते हुए कहा।

"देवेश! तुम्हारी बात अपनी दृष्टि से ठीक हो सकती है। परन्तु, यह तो एक तरह की गुलामी ही हुई न? किसी भी तरह की गुलामी का मेरी प्रकृति से मेल नही खाता। मै इस पर-मुखापेक्षिता से स्वयं छूटा हूँ और संसार को छुडाने का दृढ संकल्प लिये बैठा हूं। साधक की साधना अपनी शक्ति और पराक्रमशीलता पर चल सकती है। कोई भी आत्म-वीर किसी इन्द्र, महेन्द्र या चक्रवर्ती के बल पर आज तक न सिद्धि प्राप्त कर सका है, न वर्तमान मे कर सकता है और न भविष्य मे ही कर सकेगा। यह त्रिकाल सत्य है। सहायता और साधना

का तो छत्तीस का सम्बन्ध है"—महावीर ने अपनी गम्भीर मुद्रा में उत्तर दिया।"

महावीर की इस प्रभावपूर्ण एवं आत्मस्पर्शी वाणी को सुन कर इन्द्र अवाक् था। साधना का सत्य उसे आज ही सुनने को मिला था। गद्गद् हृदय से महावीर के चरणों मे नतमस्तक होकर बोला—"भगवन् ! सेवक का अपराध क्षमा हो। मेरी आँखों पर अज्ञान का जाला छाया हुआ था। अत आपके सच्चे स्वरूप को समझने में आज तक असमर्थ रहा।"

आत्मावलम्बन का यह कितना महान् आदर्श है !

## विष को भी अमृत बना दिया !

महापुरुषों की करुणा-वृष्टि मानव समाज तक ही सीमित नहीं रहती। प्राणीमात्र मे आत्मीयता का मधुर दर्शन ही उनकी साधना का सजीव रूप होता है।

एक बार महावीर श्वेताम्बी की ओर बढ़े जा रहे थे। मार्ग मे एक चरवाहे ने उनका मार्ग रोकते हुये उनसे कहा—"महात्मन्! इधर से होकर न जाइये। इस मार्ग में एक भयंकर सर्प रहता है। उसकी विषैली फुफकार से मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी भी जीवित नहीं रह सकते। अत आप दूसरे पथ से होकर जायँ, तो अच्छा है।

महावीर ने जैसे उसकी बात सुनी ही नहीं। वे चुप-चाप उसी राह पर बढ़ते रहे और सीधे सर्प के बाँबी पर जाकर ध्यानस्थ खड़े

हो गये। आज उनके अन्तर्मन मे विष को अमृत बनाने की एक मगल कामना जाग उठी थी।

थोड़ी देर बाद सर्प विपाक्त वायु के बादल उड़ाता हुआ अपनी बाँबी से निकला। वह आश्चर्य होकर देख रहा था कि "यह कौन है, जो मेरे सिर पर ही आकर खड़ा हो गया है? क्या इसे अपना जीवन प्यारा नही ?"

सर्प ने क्रुद्ध होकर महावीर के चरणो मे दश मारा ; किन्तु वे फिर भी शान्त थे। आत्म-चिन्तन की गहराई मे डुबकियाँ लगा रहे थे।

कुछ देर विष और अमृत का द्वन्द्व-युद्ध चलता रहा। आखिर, अमृत ने विष पर विजय पाई।

सर्प को आत्म-बोध मिला। वह टकटकी लगाये उस अमृत-योगी के मुखारविन्द की ओर निहारता रहा। महावीर ध्यान से निवृत्त हो देशना-मुद्रा में बोले—"नागराज! जागो! जागो!! अन्धकार मे क्यों भटक रहे हो? जीवन मे सम्यक् ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करो। अपने-आपको पहचानो। जरा सोचो-समझो तो सही, पहले क्रोध, अहंकार तथा दुरभिनिवेश के कारण तुम सर्प बने हो और यदि अब भी भगवती करुणा एव क्षमा की उपासना न की, तो पता है, जीवन किस गहरे अन्धकार मे भटक जायगा ?"

महावीर के इस अमृतोपम प्रवचन से सर्प को ज्ञान का प्रकाश मिला। वह विचार-सागर में डूबने-उतराने लगा। चिन्तन करते-करते पूर्व जीवन का चल-चित्र आँखो के सामने नाचने लगा।

हृदय विकल हो उठा।

आत्म-भान होने से वह अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करता रहा। उस दिन से उसने किसी को काटा नहीं, किसी को सताया नहीं। वह स्वयं सताया गया, फिर भी शान्त रहा और अमृत-भाव की उपासना करता रहा।

## मैत्री-भाव का आदर्श

एक बार स्वर्ग में देवराज इन्द्र महावीर के अचल धैर्य, अपार सहिष्णुता और कठोर साधना की प्रशंसा करते हुए भरी-सभा में सहसा बोल उठे—"आज भूमण्डल पर महावीर-जैसा दूसरा कौन घोर तपस्वी है ? कष्ट-सहिष्णु एवं क्षमाशील है ? कोई भी नहीं, मनुष्य तो क्या, देवता भी उन्हें अपने साधना-मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। उनमें असाधारण धैर्य है तथा अदम्य उत्साह।" सारी सभा के अनुमोदन-भरे जयघोष से इन्द्र-सभा गूंज उठी।

परन्तु, समीप में बैठा हुआ संगम नामक एक अहंकारी देव इस बात को सहन न कर सका। उसने सोचा—"अन्न का कीड़ा मानव ! वह इतना दृढ़, जिसे देवता भी नहीं डिगा सकते ?

यह ठीक है, महावीर तपस्वी है, घोर तपस्वी है; फिर भी मानव, मानव है और देव, देव ही। आज मुझे इनकी तितिक्षा और सहिष्णुता की कसौटी करनी है।"

क्या देर थी! अपनी आसुरी भावना को कार्य में परिणत करने के लिए वह दुष्ट देव उसी वनस्थली मे आ पहुँचा—जहाँ महावीर आत्म-साक्षात्कार करने के लिये ध्यानस्थ खड़े थे। आते ही उसने एक के बाद एक, उन घनघोर यातनाओं और कष्टों का जाल बिछाया, जिनके समक्ष मानव-कल्पना भी कुण्ठित हो नतमस्तक हो जाती है। एक दिन नहीं, एक सप्ताह नहीं, एक पक्ष नही, एक मास नहीं; निरन्तर छह मास तक एक-से-एक भयंकर विपत्तियों का वात्याचक्र चलता रहा। किन्तु, महावीर पर इस का तनिक भी असर न हुआ। वे सुमेरु की भांति ध्यान में अडिग तथा अचल रहे।

अन्ततः संगम निराश-हताश हो गया। उसे अपना कदाग्रह छोड़ देना चाहिये था। किन्तु, दुराग्रही और अहंभाव का पुजारी कहाँ ऐसा कर सकता है? वह कुछ देर सोचकर अपनी बात रखने के लिये दम्भपूर्ण एवं कृत्रिम स्वर में बोला—"भगवन्! क्षमा कीजिये, मैं इतने दिनो तक आपकी साधना में विघ्न डालता रहा, अड़चनें पैदा करता रहा। मैंने सोचा—"क्यों, किसी सन्त को कष्ट दिया जाय। कोई साधना करे, तो करे! मैं क्यों पथ का रोड़ा बनूं? मैं जा रहा हूँ, आप निश्चिन्त हो आत्म-साधना कीजिये।"

इतना सुनना था कि महावीर का हृदय करुणा से भर आया। उनकी स्नेहपूर्ण आँखों से अनुकम्पा का अमृत-रस छलकने लगा। संगम ने सोचा—"इन्हें कोई आन्तरिक कष्ट है, जिसकी वेदना असह्य हो उठी है। सम्भव है, इसी बहाने से मेरी बात रह जाय।"

"भगवन्! क्या बात है? क्यों इस प्रकार अधीर हो रहे हो?'

"संगम! क्या बताऊं? हृदय में रह-रह कर एक कष्ट, एक दर्द उभर रहा है। रोकना चाहता हूँ, पर रुक नहीं रहा है।"

"भगवन्! आज्ञा कीजिये, मैं यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करूंगा।

"संगम! कष्ट का दूर होना अशक्य है, यह तेरे बस की बात नहीं।"

"फिर भी कहिये तो सही। मैं देव हूँ, जो चाहूँ कर सकता हूँ।"

"सुन कर ही क्या करोगे? मेरा कष्ट, मेरा अपना निजी नहीं है।"

"संगम! तूने अज्ञान-वश मेरे को निरन्तर इस समय तक कष्ट पहुँचाने का जो प्रबल प्रयास किया है, वह सिलसिला यदि अब यहाँ तक भी चालू रहता, तो भी मुझे कष्ट की अनुभूति न होती। इस अभिनिवेशन में पड़ कर तेरा जीवन तो निरन्तर विनष्ट हो रहा है। कष्ट इस ओर ही है। वह यह कि—"तूने

हँस-हँस कर जो पापो का बोझा अपने ऊपर लाद लिया है, उसका कटु फल जब तेरे समक्ष आयेगा, तब तू क्या करेगा ? मै तेरे उस अन्धकारपूर्ण भविष्य को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। आह ! मुझे सर्वाधिक वेदना यही है कि "मैं तेरे इस अधःपतन मे निमित्त बन गया हू। भला, इससे बढ़कर मेरे लिये और क्या कष्ट हो सकता है ?" यह कहते-कहते महावीर के नेत्र फिर डबडबा आये।

इतना सुनना था कि संगम मारे लज्जा के पानी-पानी हो गया। कहाँ मैं अकारण कष्ट देने वाला पामर जीव और कहां यह मेरे ही दुःख मे घुलने वाला महान् सन्त ? संगम हत-प्रभ हो गया। उसका दैवी शक्ति का अभिमान गल गया। यह थी पार्थिव शक्ति पर आध्यात्मिक तपस्तेज की शानदार विजय ! यह थी करुणा की चरम सीमा, जहाँ पहुँचकर मानव, मानव नही रहता, महामानव बन जाता है !

## गोशालक की प्राण-रक्षा

एक बार महावीर विहार करते हुए राजगृह जा पहुँचे और नगर के बाहर की बस्ती नालन्दा में एक तन्तुवाय (जुलाहे) की शाला में वर्षावास किया। उसी जगह गोशालक नामक एक मस्करीय युवक-भिक्षु चातुर्मास के लिए वहीं ठहरा हुआ था।

महावीर की तपश्चर्या, ध्यान तथा आत्म-तेज से गोशालक अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने महावीर का शिष्य होने की मन में ठान ली। महावीर के चरणों में प्रस्तुत होकर उसने प्रार्थना की—"भगवन्! मैं आपका शिष्यत्व अंगीकार करना चाहता हूँ।" तत्पश्चात्, वह भगवान का शिष्य बन गया और उनका अनुगामी बनकर साथ-साथ रहने लगा।

[illegible]

साथ छेड़-छाड कर बैठना, उसके लिए मामूली बात थी।

एक बार की बात है कि गोशालक महावीर के पीछे-पीछे चल रहा था। मार्ग में देखा कि एक तपस्वी तप कर रहा है। धूप से आकुल होकर उसकी जटाओं में से जुएँ नीचे गिर रही थीं और वह उन्हें उठा-उठाकर वापिस जटाओं में रख रहा था।

इस अद्भुत दृश्य को देखकर गोशालक से न रहा गया। वह आक्षेप की भाषा में बोल उठा—"कौन-सी कमी पड़ रही है, जो इन जुओं को पकड़-पकड़कर जटाओं में जमा कर रहे हो ?" एक बार ही नहीं, तीन-तीन बार इस प्रकार व्यंग बाणों से तपस्वी के हृदय को छेदता रहा। आखिर, तपस्वी तिलमिला उठा, क्षुब्ध-विक्षुब्ध हो उठा। क्रुद्ध होकर गोशालक को भस्म करने के लिये तपस्वी ने ज्योंही तेजोलेश्या छोड़ी, तो गोशालक चीख उठा। करुणा-मूर्ति महावीर ने पीछे मुड़कर देखा, तो उनका हृदय करुणा की हिलोरें लेने लगा। उन्होंने तुरन्त शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की प्राण-रक्षा की।

## वीर अभिग्रह के अग्नि-पथ पर

आत्म-साधना करते करते एक दिन महावीर ने दृढ़ता के साथ यह महानिश्चय कर लिया कि—"अविवाहित राजकन्या, जो सदाचारिणी एवं निरपराध हो, फिर भी उसके हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां पड़ी हों, सिर मुंडा हुआ हो, तीन दिन से उपोषित हो, खाने के लिये उबले हुये कुलथी के बाकले सूप में लिये किसी अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो, न घर में हो, न बाहर, प्रसन्नमुख हो, पर आँखों में आँसू भी हों—ऐसी राजकन्या यदि मुझे अपने इस भोजन में से भिक्षा दे, तो मैं आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा छह मास तक निराहार ही रहूँगा।"

कितनी रोमांचक साधना थी यह! इस महान [illegible] [illegible] [illegible] ही थे वे [illegible] से

दीर्घ तपस्वी के नाम से प्रख्यात हो गये थे।

तपस्या से कृश बने हुए तपस्वी महावीर भिक्षा के लिये पर्यटन करते, किन्तु जब देने वाले को देखते, तो कुछ लिये बिना ही, मौनभाव से वापिस लौट जाते। जनता आश्चर्य-चकित थी। पर, वह आत्म-साधना का उग्र पथिक अपनी साधना मे तन्मय था। पाँच मास और पच्चीस दिवस व्यतीत हो चुके थे, फिर भी उस महान् तपस्वी के मुख-मण्डल पर आत्मोल्लास का महाप्रकाश प्रदीप्त हो रहा था।

अगले दिन दीर्घ तपस्वी महावीर भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए धन्ना सेठ के द्वार पर पहुंच गए। चन्दनबाला सूप मे कुलथ के बाँकले लिए हुए किसी अतिथि की प्रतीक्षा कर रही थी। उस महाभिक्षु को अपनी ओर आते देख, उसका रोम-रोम पुलकित हो गया। हृदय नाच-नाच उठा। मानस-कमल खिल गया। महावीर चन्दना के समक्ष आकर खडे हो गये। अभिग्रह की प्राय. सभी बाते मिल गयी थीं, चन्दना की आँखो मे आँसू नही थे—केवल इस बात की न्यूनता थी। अतः महावीर वापिस लौट चले।

द्वार पर आये अतिथि को खाली हाथो लौटता देख चन्दना की आँखें छलछला आईं, हृदय भर गया। अवरुद्ध कण्ठ से नि श्वास लेते हुए उसने विनीत स्वर मे कहा—"भगवन्! क्या मुझ अभागिन से कोई अपराध हो गया, जो खाली लौटे जा रहे हो?"

महावीर ने पीछे मुड़कर देखा, तो चन्दनबाला के निराश एवं व्यथित हृदय में आशा का प्रकाश जगमगा उठा। मुख पर मुस्कान छा गई। आँखों मे आँसू और होठों पर प्रसन्नता की चमक '' हर्ष-विषाद के इस मधुर मिलन को देख कर महावीर वापिस लौट आये और चन्दना के आगे अपने हाथ फैलाकर खड़े हो गये। चन्दना ने भक्ति-भाव से गद्‌गद हृदय हो कर उस महामहिम तपस्वी को कुलथ के बॉकलो का आहार-दान दिया। महावीर का भीष्म अभिग्रह आज पूर्ण हुआ। गगन-मडल मे दान की महिमा का जय-नाद गूँज उठा। चन्दना का मनस्ताप दूर हुआ।

ज्ञान का महास्रोत उमड पडा। अतः उन्हे जानने को कुछ शेष न रहा। जैन-सस्कृति की शास्त्रीय भाषा मे आज महावीर केवल-ज्ञानी, अरिहन्त और जिन हो गये।

जिस दिन महावीर को कैवल्य ज्योति का साक्षात्कार हुआ, वह दिन मानवता का मगल दिवस था; क्योकि दो हाथ पैर वाला एक मानव अपने सच्चे पुरुषार्थ एवं वज्र प्रयत्न से जीवन के उस सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने मे सफल हो गया था, जहाँ सच्चे प्रयत्न और सच्चे पुरुषार्थ के बल पर कोई भी मनुष्य चढ़ सकता है; किन्तु उससे और ऊँचे जाने की कोई आशा नही कर सकता, आकाङ्क्षा नही कर सकता।

## गौतम : प्रभु-चरणों में

उन दिनों पावापुरी में सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण विशाल यज्ञ का आयोजन करा रहा था। भारत के जाने-माने कोनों के विद्याशाली पण्डित, विद्वान् और आचार्य उसमें भाग ले रहे थे। इन्द्रभूति गौतम उन पण्डित-वर्गों के अधिनायक थे।

छोड़ कर सुगमता से सत्य मार्ग का वरण कर सकेगी।"

कैवल्य पाते ही भगवान् महावीर सीधे पावापुरी पहुँचे और वहाँ हिंसामय यज्ञों का डटकर विरोध किया और हिंसामय कर्म को प्रकाश से अन्धकार की ओर, सत्य से असत्य की ओर, अमरत्व से मृत्यु की ओर ले जाने वाला जघन्य कर्म बतलाया।

जीवन के यथार्थ सत्य के आकर्षण से हजारो जनता, उस महापुरुष से सत्य का प्रकाश पाने के लिए उमड़ पडी। जनता का बहाव महावीर की ओर बहता देख गौतम आश्चर्य-चकित थे। महावीर लोक-मानस का आकर्षण-केन्द्र बनता जा रहा है—यह देख कर गौतम के मन मे अपनी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य का अहंभाव जाग उठा। सोचा-"चलूँ, देखूँ, महावीर कैसा ज्ञानी है? वह मेरे सामने कितनी देर ठहर सकेगा? भारत के मैदानो मे बडे-बडे पण्डितो को शास्त्रार्थ मे पछाड कर मैने अतुल यश प्राप्त किया है। भारत के इस छोर से उस छोर तक मेरी विद्वत्ता की धाक है। शास्त्रार्थ करके आज महावीर पर भी विजय पाऊँगा, उसे भी अपनी विद्वत्ता का प्रशंसक और कायल बनाऊँगा।" अहंकार का यह मनोभाव लेकर वह अपनी विद्वान् शिष्य-मण्डली के साथ भगवान् महावीर के समवशरण मे जा पहुँचा।

प्रकाश-पिण्ड महावीर को देखते ही गौतम का गर्व गलने लगा। महावीर ने ज्यो ही 'गौतम', कह कर सम्बोधित किया, तो गौतम स्तम्भित-सा रह गया। सोचा " "मेरी ख्याति भारत

के ओर-छोर तक फैली हुई है, कही से मेरा नाम सुन लिया होगा। यदि महावीर मेरे अन्तर्मन मे प्रच्छन्न सशय को दूर कर दे, तो मै समझ लूँगा कि यह कोई खरा ज्ञानी पुरुष है।"

गौतम के मन मे यह सकल्प चल ही रहा था कि अन्तर्दर्शी महावीर गम्भीर मुद्रा मे बोले "' "गौतम! आत्मा का अस्तित्व है या नही चिरकाल से यह सशय तेरे मन मे घूम रहा है। उस अन्तर्लीन शका का समाधान यही है कि—"आत्मा है। चित्, चैतन्य, विज्ञान और सज्ञा आदि लक्षणो से वह प्रत्यक्ष जाना-पहचाना जा सकता है। यदि आत्मा की सत्ता स्वीकार न करें, तो पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का पात्र कौन होगा ?"

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे महावीर की ज्ञान-गगा का महा-प्रवाह वह चला। गौतम का मनन-शील मन भी महावीर के विचार-प्रवाह के साथ बहता रहा। आखिर, गौतम के हृदय की गाठ खुल गई। उसके ज्ञान का नशा उतर चला। अन्तरतम के संशय छिन्न हो गए। आत्म-ज्ञान की प्यास जाग उठी। भक्ति-भाव से गद्गद होकर उसने नम्र निवेदन किया—"भगवन्! आज तक मै अन्धेरे मे ठोकरे खाता रहा और जनता को भी अपने हाथो अन्धकार के गर्त मे ढकेलता रहा। सच्चे ज्ञान की किरण ने आज मेरे जीवन की दिशा बदल दी है। प्रभो! अब मुझे अपनी चरण-शरण मे लीजिए।"

ज्ञान की उस जलती हुई लौ पर गौतम ने अपने-आप को

निछावर कर दिया । साथ ही समूची शिष्य-मंडली ने भी गौतम के चरण-चिन्हों का अनुसरण किया ।

भगवान् महावीर के अहिंसा-धर्म की यह सर्वप्रथम और शानदार विजय थी, जिसने विद्वत्समाज और जनसाधारण में एक तहलका मचा दिया । हिंसा के सिंहासन की जड़ें हिल उठी और सब ओर "अहिंसा परमो धर्म", का महास्वर गूंज उठा !

## जन-सेवा बनाम जिन-सेवा

भगवान् महावीर अपने समय के क्रान्तदर्शी जन-नायक थे। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की महाज्योति प्राप्त करने के बाद वे पैदल घूम-घूम कर निरन्तर तीस वर्ष तक जन-सेवा करते रहे। जनता-जनार्दन की निष्काम सेवा करना ही तो उन का कर्तव्य शेष रह गया था। उनकी दृष्टि में जन-सेवा का कितना महत्वपूर्ण स्थान था—इन्द्रभूति गौतम और महावीर के निम्न ऐतिहासिक सवाद पर से इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

चिन्तन के क्षणों मे बैठे हुए एक बार इन्द्रभूति गौतम के अन्तर्मन में सहसा एक विचार घूम गया। उनके मन को एक महाप्रश्न ने घेर लिया। वे आसन से उठे और प्रश्न का समा-

धान पाने के लिए ज्ञान की जलती हुई ज्योति प्रभु महावीर के चरणो में पहुँचे। विनम्र भाव से वन्दन किया, और जिज्ञासा-भरी मुद्रा मे विनीत भाव से बोले—"भगवन्! एक प्रश्न मन को कचोट रहा है, उसी को पूछने के लिए श्रीचरणो मे प्रस्तुत हुआ हूँ। आज्ञा हो तो पूछ लूँ ?"

"गौतम! जो भी पूछना हो, निसंकोच भाव से पूछ सकते हो !" भगवान् महावीर ने अपनी प्रशान्त मुद्रा मे कहा।

"भगवन्! दो व्यक्ति है। उनमे से एक तो दिन-रात आपकी सेवा मे तत्पर रहता है। आपके नाम की माला फेरता है, आप की स्तुति करता है, आपके दर्शन करता है, आपकी वाणी सुनता है। उसके आस-पास मे दु.खी है, पीड़ित है, निराश्रित है, उनके आर्तनाद से इधर-उधर का सारा वातावरण कराह रहा है। वह समर्थ है, उनको प्रश्रय दे सकता है, उनका आधार बन सकता है, उनके करुण आंसुओ को मुस्कराहट मे बदल सकता है। परन्तु, आपकी सेवा करने से ही उसे अवकाश नही मिलता!

दूसरा व्यक्ति वह है, जिसके अन्तर मे आपके प्रति श्रद्धा है, भक्ति-भावना है। पर आपके दर्शनों के लिए, आपकी वाणी का अमृत-पान करने के लिये, उसे अवकाश नही मिल पाता। दीन-दु.खी को देखते ही उसका अन्तर्हृदय करुणा की हिलोरे लेने लगता है, मन का कण-कण करुणा से भीग जाता है। उसके दु:ख-दर्द को वह अपना दु.ख-दर्द समझता-मानता है। करुणार्द्र होकर वह दिन-रात दीन-दुखियों की, पीड़ितो की, निराश्रितो

की सेवा मे जुटा रहता है। उसकी प्रिय एवं मधुर वाणी उनके जख्मो पर मरहम का काम करती है। उसकी सहानुभूति उनके ...हताश हृदयो को जीवन का आश्वासन देती है। वह .पने हाथो से गरीबो के आँसू पोछता है, निराधार का आधार बनता है, गिरते हुए को सहारा देता है। जीवन के प्रत्येक मोड़ पर उनके दु ख-दर्द का साथी बनकर वह तद्रूप हो जाता है। उसके पास कोई रोता हुआ आता है, तो हॅसता हुआ वापिस लौटता है। भन्ते ! इन दोनो व्यक्तियो मे से आप का सच्चा भक्त कौन है ? दोनो मे श्रेष्ठ कौन है।"

उस युग-पुरुष ने बड़ी ही रहस्यपूर्ण मुद्रा मे उत्तर देते हुए कहा--"गौतम ! जो दीन-दुखियो की सेवा करता है, वही धन्य है, वही मेरा भक्त है।"

गौतम और अधिक स्पष्टीकरण की माँग करते हुए बोले—"भगवन् ! आपका कथन तो सत्य है, परन्तु इसका अन्तर-रहस्य क्या है, यह मै अभी नही जान पाया हूँ। कहां तो आप तीन लोक के नाथ वीतराग परम पुरुष ! और कहाँ वे दीन-दु खी ससार के प्राणी ! आपकी सेवा के आगे उनकी सेवा का क्या मूल्य हो सकता है ?"

भगवान् महावीर ने तथ्य को प्रकाश मे लाते हुए कहा—"गौतम ! मेरी भक्ति या सेवा क्या है ? मेरी व्यक्ति-गत सेवा के लिए मेरे पास जरा भी स्थान नहीं है। मेरी सेवा मेरी आज्ञा के पालन मे है, मेरा अनुशासन मानने मे है। और मेरी आज्ञा है कि दीन-

दुखियो की सेवा करो ? जगत के समस्त प्राणियों को अभयदान दो। पीड़ितो और निराश्रितो को सुख शान्ति पहुँचाओ। असहाय-अनाथो पर दयाभाव लाओ। अत: दुखियों का आर्तनाद सुनने वाला मेरी वाणी सुनता है। उनको करुणा-भरी दृष्टि से देखने वाला मेरे दर्शन करता है। उनको सहारा देने वाला मेरा अनुशासन मानता है; उनके आँसू पोछने वाला मेरी सेवा करता है। इसके विपरीत, केवल मेरा नाम रटने वाला, केवल इन चमड़े की आँखो से मेरे दर्शन करने वाला, मेरा सच्चा सेवक कैसे हो सकता है ?

यह है जन-सेवा में जिन-सेवा का भव्य आदर्श ! यह है नर-सेवा मे नारायण-सेवा की दिव्य दृष्टि ! लोक-सेवा के इतिहास का कितना उजला पृष्ठ है यह ! इस गौरवास्पद उत्तर को पाकर गौतम के मन का संशय छिन्न हो गया। उनकी आत्मा प्रसन्न आभा से चमक उठी !

## सत्य के प्रखर वक्ता

भगवान् महावीर सत्य के प्रखर वक्ता थे। सत्य का प्रतिपादन और असत्य का विरोध करते समय इधर-उधर देखना या किसी के साथ कुछ भी रू-रिआयत करना उनकी वृत्ति मे था ही नही। वहाँ तो जो था, नग्न था, स्पष्ट था। वे सत्य के कितने कट्टर प्रतिपादक और असत्य के कितने विरोधी थे—इसकी एक हलकी-सी झाँकी हम निम्न घटना मे देख सकते है।

सम्राट् कोणिक भगवान् महावीर का कट्टर भक्त बना हुआ था। इतना कट्टर, कि जब तक प्रतिदिन महावीर की सुख-शान्ति की सूचना न मिल जाय, तब तक कुल्ला भी न करे, अन्न-पानी ग्रहण करना तो दूर! बाह्य-भक्ति की यह पराकाष्ठा थी!

एक बार विराट सभा मे जनता के सामने खड़ा हो कर

कोणिक भगवान् महावीर से पूछता है—"भगवान् ! मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?" भगवान् महावीर ने तथ्य को अनावृत करते हुए गम्भीर भाव से कहा—"कोणिक ! इस बात का निर्णय अपने मन से करो ! अन्दर बैठा है सब से बडा आत्म-देवता, जो साक्षी है तुम्हारे जीवन के फैसले का ! और यदि मुझसे ही उसका फैसला सुनना चाहते हो, तो मैं तुम्हारे भविष्य को प्रत्यक्ष अन्धकारपूर्ण देख रहा हूँ। तुम मर कर छठी नरक में जाओगे।"

"भगवन् ! आपका भक्त और छठी नरक ?" भगवान् महावीर ने जरा और गंभीर होकर कहा—"कब से बने हो भक्त ? जो कर्म किए हैं, उन्हे याद करो। पिता को कैद मे डाला ! भाइयो का सब-कुछ हड़प कर भी उनके प्राण लेने पर उतारू हो गया। अपने नाना चेटक का निर्मम संहार किया। ये काले कारनामे क्या कभी भुलाये जा सकते है ? क्या इस सत्य पर कभी धूल डाली जा सकती है ? शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है—यह एक ऐसा त्रिकाल सत्य है, जिसको कभी झुठलाया नही जा सकता।[१] घोर कर्म, अन्याय, अत्याचार जो तुमने किये है, अब उनका फल भोगना ही पडेगा, क्योकि दुष्ट कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा है नही।[२]

१—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति। —आचारांग

२—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि !" —उत्तरा० ४/३

कौशिक का मन स्वर्ग की कल्पना के पंख लगाकर उड़ रहा था। उसने सोचा था—आज तो भगवान् से स्वर्ग का प्रमाणपत्र मिल जायगा, और जनता मे मेरी धाक बैठ जायगी। जीवन मे लगी कालिख धुल जायगी। जिन्दगी की चादर पर से कलंक के काले धब्बे साफ हो जाएँगे। पर, सत्य के राजमार्ग का वह महापथिक क्या सत्य का प्रतिपादन करने मे झिझके? क्या भक्त का पक्ष लेकर सत्य पर परदा डालने की कोशिश करे? कभी नहीं, तीन काल मे भी नहीं।

भगवान् महावीर की अलक्षित वाणी ने भरी सभा मे जन-वर्ग के समक्ष तथ्य को अनावृत कर दिया। कौशिक अपने-आप मे लज्जित हुआ। उस दिन के बाद वह भक्ति का प्रदर्शन बन्द हो गया। भक्ति का वह नाटक सदा के लिए समाप्त हो गया। वह भक्ति, भक्ति नहीं, सौदेबाजी थी, स्वर्ग की सीट ( seat ) रिजर्व कराने के लिए थी, भक्ति का प्रश्रय लेकर अपने पापो पर गहरा परदा डालने के लिए थी, भगवान् की आड़ लेकर जन-मन मे प्रतिष्ठा पाने के लिए थी। इसलिए नरक का नाम सुनते ही वह भक्ति की लीला काफूर हो गई।

परन्तु, वह सत्य का जगमगाता हुआ महाप्रकाश इसकी कब परवाह करने वाला था। उनको सत्य प्रिय था, व्यक्ति या भक्त नहीं।

# निर्वाण

भगवान् महावीर के विशाल जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सूर्य के प्रकाश की भाति स्पष्ट हो जाता है कि वह ज्योति-पुञ्ज एडी से चोटी तक क्रान्ति ही क्रान्ति था। उनकी क्रान्ति के पीछे मानव-जीवन के महानिर्माण की एक भव्य सृष्टि छिपी हुई थी। और उसी के लिए केवल ज्ञान का महाप्रकाश पाने के बाद तथा पूर्णत कृतकृत्य हो जाने के बाद भी वे दूर-दूर तक पैदल घूम कर अपने अन्तर्लोक की तेजोमयी प्रकाश-किरणो से मानव-जीवन के अन्धकार-विलुप्त रहस्यो एव तथ्यों का उद्घाटन करते रहे।

पावा नरेश हस्तिपाल के अत्यन्त भाव-भरे आग्रह पर भगवान् महावीर ने अपना अन्तिम वर्षावास राजा की रजुगसभा [पटवारी के दफ्तर] में किया हुआ था। चातुर्मास के तीन मास व्यतीत हो

चुके थे और चौथा मास भी आधा बीतने पर आ गया था। कार्तिक-अमावस्या की प्रभात वेला थी। स्वाति नक्षत्र का योग चल रहा था। अपना अन्तिम समय जानकर भी वे जन-कल्याण के लिए दो दिन तक निरन्तर अपनी मृत्युञ्जय वाणी की अजस्र धारा बहाते रहे। अपने आत्म-स्थित ज्ञान के उजियारे से जन-मन मे जीवन-ज्योति जगाते रहे, हजार-हजार हाथो से आत्म-ज्ञान की सम्पत्ति लुटाते रहे। महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्लि और नौ लिच्छवि—जो अट्ठारह गणराजा कहलाते थे, पौषध-व्रत किये हुए, उस ज्योतिर्मय युग-पुरुष से ज्ञान का अक्षय प्रकाश प्राप्त कर रहे थे। स्वय भगवान् महावीर भी दो दिन से उपवास मे ही थे। हजारो दर्शनार्थी उस महापुरुष के दर्शनो की लालसा लिए दौड़ रहे थे। कुछ नगर से बाहर सड़को पर तेज रफ्तार से चले आ रहे थे, कुछ नगर की गलियों मे भाग रहे थे, कुछ उनका चरण-स्पर्श करने के लिए अपने हाथो को आगे बढ़ा रहे थे, इतने ही मे जीवन की चरम सास मे भी ज्ञान के प्रकाश की किरणें विकीर्ण करती हुई वह महाज्योति लोक-लोचनो से हमेशा के लिए ओझल हो गई। उनकी इस महायात्रा को जैन-भाषा मे निर्वाण या परिनिर्वाण कहते है। निर्वाण का अर्थ है पूर्णत आत्म-शान्ति! हमेशा के लिए मृत्यु पर विजय! मौत की भी मौत!! सदा-सर्वदा के लिए अक्षय अजर-अमर पद की प्राप्ति!!!

## आत्मा का अमर व्याख्याकार

सत्य एवं शिव के एक प्रकाशपिण्ड-सा महावीर हमारी आँखो को चकाचौंध कर देता है। हमारे सोचने-समझने की पद्धति पर उसका प्रहार निर्मम व्यंग्यो की वर्षा करता है। तत्कालीन पाखण्ड को उसकी वाणी यो अनावृत कर देती है, जैसे सत्य-शोधक प्रवञ्चनाओ को चीर कर अपने अन्तर्मुख के दर्शन करता है।

वास्तव मे, विश्व की उस महत्तम विभूति का सन्देश तो प्रतिभा की ऐसी वेगवती लहर है, जो जनता के दिल और दिमाग को झक-झोर कर उसे शिव-मार्ग पर आरूढ़ होने की एक जीवित-जाग्रत प्रेरणा प्रदान करती है। उस महान् जन-नायक का मुख्य कार्य तो अपने अनुभव-मूलक विचारो द्वारा आध्यात्मिक, नैतिक तथा सामाजिक क्रान्ति कर मानव-समाज को विजय के उस पथ पर

ले जाता है, जहाँ मानवता पतनोन्मुख होने की अपेक्षा कान्तिमान हो उठती है। जड़वादियो ने उसे 'नास्तिक' कहा, पर वह 'नास्तिक' संसार को आत्मा की अमर व्याख्या दे गया। वह हर इन्सान से यह आशा करता है कि वह अपने जीवन मे अहिंसा का दामन पकड़कर चले। उसकी दृष्टि मे वही समाज सदा सुखी रह सकता है, जिसने अहिंसा-मूलक नैतिक गुणो को अपने जीवन मे आत्मसात् कर लिया है। व्यक्ति की नींव पर समाज का भवन खडा है। और यदि व्यक्ति ही पतित है, तो वह किस प्रकार उन्नत-समुन्नत हो सकता है? उस का मत है—"मानव-स्वभाव निम्न व पतित होने की अपेक्षा उच्च एव दिव्य है। मानवो के सम्पूर्ण पापो को वह उनके स्वभाव की अपेक्षा उनकी बीमारी समझता है। दूसरे शब्दो में, पाप मनुष्य की अज्ञानता से उत्पन्न वे चेष्टाएँ है, जिन्हे दूर किया जा सकता है।"

सचमुच महावीर वर्गों से ऊपर उठकर सत्य का सच्चा व्याख्याता है। उसने समाज का ध्यान मानवात्मा के सौन्दर्य की ओर खींचा और उस सौन्दर्य मे उसने अहिंसा एव सत्य का रंग भरकर समाज तथा राष्ट्र को शिवत्व की उपासना मे लीन-तल्लीन किया। उसने कहा—"जीवन ही सच्ची शक्ति का स्रोत है। जीवन ही सच्चा धन है, वह जीवन जिसमे अहिंसा, सत्य, आनन्द और सद्भावना की लहरियाँ उठती है। वही राष्ट्र सब से अधिक धनवान् है, जिसकी गोद मे अधिकाधिक उदार, विचार-

शील, दया-निष्ठ, सेवा-प्रवण और सुखी मानवात्माएँ पलती है। वही मानव सब से ऊँचा है, जो अपने जीवन के सम्पूर्ण कर्तव्यो एव दायित्वो को यथावत् पूरा करता है।"

क्रान्तदर्शी महावीर के जीवन की सुलगती हुई चिनगारी आज भी दानवी हिंसा, सामाजिक विषमता, अन्याय, अत्याचार शोषण, उत्पीडन और अमानवी दुश्चक्रो के नग्न ताण्डव को भस्मसात् करने के लिए हमे सजीव प्रेरणा दे रही है। आवश्यकता है, केवल दृष्टि के धुंधलेपन को साफ करके निर्मल दृष्टि से देखने की। उनका जीवन श्रवण करने या अध्ययन करने की चीज नहीं, प्रत्युत उनके उच्चादर्शों के महाप्रकाश से प्रेरणा, स्फूर्ति एव चेतना की जलती हुई चिनगारी लेकर जीवन मे विराट रूप देने के लिए है।

# धर्म-देशना

## धर्म-देशना क्यों और किस लिए ?

भगवान् महावीर केवल-ज्ञान की महाज्योति पा चुके थे। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को पाकर वे कृत-कृत्य हो गए थे। उनका अपना जीवन बन चुका था। अब उनके लिए कुछ करना या बनना शेष न था। वे चाहते, तो नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत कर सकते थे—ससार से हजारो कोस परे, सर्वथा परे रहकर। परन्तु, उनका जीवन एकान्त निवृत्ति-परक—निर्माल्य नहीं था। ज्योही उन्होने कैवल्य की अक्षय निधि को पाया, तो वे प्रकाश के उस अक्षय भण्डार को बाँटने के लिए अपने एकान्त जीवन को निर्जन वन-गुफाओ मे से खींचकर मानव-समाज मे ले आए। 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए' के अनुसार विश्वजनीन भावनाओ के लिए अपने-आप को अर्पण कर देना ही उनके

तीर्थङ्कर-जीवन का उच्चादर्श था।

आत्म-ज्योति को पाने के बाद उन्होने उसे हजार-हजार हाथो से बाँटना प्रारम्भ किया—किसी इच्छा-वश नही, किसी जिज्ञासा-वश नही, किसी स्वार्थ-वश नही, किन्तु, जैन-सस्कृति को मूल भाषा के अनुसार विश्वहितङ्कर-रूप तीर्थङ्करत्व स्वभाव-वश आत्म प्रदान-अर्थ। जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसका उत्सर्ग करता ही है। उसके पास था अमृत रस, लबालब भरा हुआ, छलकता और बहता हुआ। वह उसी को हर तरफ देता हुआ चला, जन-गण-मन को जगाता और उठाता हुआ चला। उसके पास था आनन्द रस, वह उसी को सब ओर सरसाता हुआ चला, उमगाता हुआ चला। उसके पास था ज्ञान रस, वह उसी को चहुँ ओर छिटकाता हुआ चला, बरसाता हुआ चला। वह सब ही को अपने समान निष्काम और आप्तकाम, वशी तथा स्वतत्र बनाता हुआ चला। तीस वर्ष तक निरन्तर कर्मशील रह कर वह मानव-जगत् को निष्काम कर्मयोग का सक्रिय पाठ पढ़ाता चला।

काँटो मे खिलकर भी वह फूल ऐसा महका कि जिससे दिग्दिगन्त सुरभित हो उठा। जीवन के साक्षात् अनुभवो की अमूल्य थाती प्राप्त कर जो मधुर अनुभूतियाँ उसने जन-मच पर प्रस्तुत की, उससे भारतीय जीवन का मरुस्थल वासन्ती सुषमा से मुस्करा उठा! वे जीवन के सच्चे और सफल कलाकार थे। उन्होंने भारत की आत्मा को अन्धकार के गर्त में ठोकर खाते और क्रन्दन

करते देखा। उसकी पीड़ा का मूल कारण खोज कर उसके घावो पर मरहम लगाने का भी रचनात्मक प्रयत्न किया। वे सामाजिक मच पर केवल समस्याएँ लेकर ही नही आए, समस्याओ का समाधान लेकर भी आए? वे नाड़ी के परीक्षक, केवल वैद्य ही नही थे, कुशल चिकित्सक भी थे। उन्होने अपने सतत क्रियाशील जीवन से सिद्ध कर दिया कि नि:स्वार्थ तथा निष्काम युग-द्रष्टा ही समाज का सच्चा पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

## हिंसा के प्रति खुला विद्रोह

वह युग यज्ञ-याग का युग था। यज्ञो मे होनेवाली वैदिकी हिंसा पर धर्म का रंग चढ़ाया जा रहा था । "यज्ञार्थं पशवः सृष्टा" आदि कपोल-कल्पित सूत्रों के द्वारा पशु-जगत् की सृष्टि यज्ञो की सार्थकता के लिए ही हुई है—यह भ्रान्त धारणा जनता के गले उतारी जा रही थी। यज्ञीय हिंसा को स्वर्ग-प्राप्ति के सर्वश्रेष्ट साधन के रूप मे मान्यता देकर हिंसा को प्रोत्साहन दिया जा रहा था।

ऐसे हिंसा-प्रधान वातावरण के प्रति अहिंसा के पूर्ण देवता महावीर कैसे मौन रह सकते थे ? उन्होंने हिंसा के विरोध मे अपनी आवाज बुलन्द की और अपने सार्वजनिक प्रवचनो मे धर्म के नाम पर होने वाली उस घोर हिंसा के प्रति खुला विद्रोह किया।

उन्होंने अपनी गम्भीर भाषा में कहा—"हिंसा तीन काल में भी धर्म नहीं हो सकती। संसार के सब प्राणी,—फिर चाहे वे छोटे हों या बड़े, मनुष्य हों या पशु—जीना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता।[1] सब को सुख प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय। सब को अपना जीवन प्यारा है।[2] अतः किसी के प्राणों को लूटना, उसके जीवन के साथ खिलवाड़ करना, कथमपि धर्म नहीं हो सकता। प्राण-रक्षा धर्म हो सकता है, प्राण-हरण नहीं। क्योंकि अहिंसा, संयम और तप यही धर्म है।[3] जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता, और जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सब ही पसन्द करते हैं—जिन-शासन का यही निचोड़ है।[4] यज्ञों में धर्म के नाम पर बलि देना घोर पाप है। यह तो सीधी नरक की राह है।

---

१—"सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।"

—दशवैकालिक ६/११

२—"सव्वे जीवा सुहसाया दुक्खपडिकूला
सव्वेसिं जीवियं पियं"

—आचारांग २/३/८१

३—"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"

—दशवैकालिक १/१

४—जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि मा, एत्तियग्गं जिणसासणयं॥

—बृहत्कल्प०

हिंसा स्वयं अपने-आप मे पाप है, और धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा तो महापाप है।

भगवान् महावीर ने केवल उन हिंसा-प्रधान यज्ञो का ही विरोध नही किया, प्रत्युत उन शास्त्रो को शास्त्र मानने से भी इनकार किया, जो शतमुख होकर हिंसक धार्मिक अनुष्ठानो का समर्थन एवं प्रतिपादन कर रहे थे। उन्होने स्पष्ट भाषा मे कहा—"शास्त्र वह है, जिसके श्रवण करने से मनुष्य की अन्तरात्मा मे तपश्चरण, क्षमा एवं अहिंसा को पवित्र भावनाएँ जागती है।[१] किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। शास्त्रो का निचोड़ इतना ही है।[२] ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी वही है, जो मन-वचन-तन से किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता।[३] यदि महायाजी बनना है, और यज्ञ करना अभीष्ट हो है, तो आत्म-यज्ञ करो। जीव-हिंसा का त्याग, चोरी झूठ और असयम का त्याग, अब्रह्म, मान और माया का त्याग, इस

१—"जं सोच्चा पडिवज्जति, तवं खंतिमहिंसयं"

उत्तरा० ३/८

२—एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसासमयं चेव, एयावंतं वियाणिया॥

—सूत्रकृतांग १/११/१०

३—तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं॥

—उत्तरा० २५/२३

जीवन की आशा-आकाङ्क्षा का त्याग, शरीर के ममत्व का भी त्याग—इस प्रकार सभी बुराइयों और असत्प्रवृत्तियों को जो त्याग देता है, वही महायाजी है।[1] यज्ञ में जीवों का भक्षण करने वाली अग्नि का कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु तप-रूपी अग्नि को प्रज्वलित करो। पृथ्वी को खोदकर कुण्ड बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, जीवात्मा ही अग्निकुण्ड है। लकड़ी से बनी कड़छी की कोई जरूरत नहीं, मन-वचन-तन की शुभ प्रवृत्ति ही उसका काम देगी। ईंधन जलाकर क्या होगा? अपने कर्मों को, पाप-कर्मों को ही जला डालो। यही सच्चा आत्म-यज्ञ है, जो संयमरूप है, शान्तिदाता है, सुखदायी है।[2]

हिंसा के प्रति श्रमण भगवान् महावीर का आन्दोलन कितना उग्र था, उसका अनुमान इस बात से सहज ही किया जा सकता है कि एक ओर "स्वर्गकामो यजेत" का पाठ पढ़ाकर क्षत्रियों को यह कहकर यज्ञ के नाम पर फुसलाया जा रहा था कि—"जो यज्ञ करता या कराता है, उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतएव

---

*१—छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।*
*परिग्गहं इत्थिओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरंति दंता॥*
*सुसंवुडा पञ्चहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।*
*वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥*
उत्तरा० १२/४१/४२

*२—तवो जोइ जीवो जोइ-ठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंग।*
*कम्मेहा संजम-जोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥*
उत्तरा० १२/४४

स्वर्ग और प्रतिष्ठा के प्रलोभन मे पड़कर प्रत्येक क्षत्रिय एकाध यज्ञ कराकर स्वर्ग के सिंहासन पर अपना अधिकार करने मे कोई कमी न उठा रखता था। दूसरी ओर मुकाबले पर भगवान् महावीर इस बात का जोरदार भाषा में खण्डन कर रहे थे कि—"हिंसा कभी भी स्व-पर के सुख के लिए नहीं हो सकती। जो स्वय हिंसा करता है, करवाता है अथवा हिंसा करने वालो का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर-विरोध और संसार ही वढाता है।[1] हिंसा-कर्म से स्वर्ग-प्राप्ति की आशा करना वञ्चना-मात्र है। यह तो घोर कर्म-बन्धन का मार्ग है। मोह का अन्धकार है, मृत्यु की पगडडी है। सीधी नरक की राह है।[2] जीवन की राह से भूले-भटके हुए धर्मध्वजी पुरोहितों द्वारा समर्थित हिंसा के प्रति यह घोर विद्रोह था। महावीर के इस अहिंसात्मक आक्षेप ने अन्धकार में भटकने वाले यज्ञवादी तथा कर्मकाण्डी वर्ग की आँखें खोल दी।

भगवान महावीर का हिंसा-विरोधी आन्दोलन यहीं तक सीमित नहीं रहा। तत्कालीन राजकीय क्षेत्र में भी जो हिंसा का बोलबाला था, उसमे भी उन्होने डटकर मोर्चा लिया। ब्राह्मण-

---

१—सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहि घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

—सूत्रकृतांग १/१/१/३

२—"एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।"

—आचारांग १/१/५

वर्ग की ओर से युद्ध को बडा भारी महत्व दिया जा रहा था। क्षत्रियो की समरवृत्ति को सतेज रखने के लिए—"युद्ध मे लडता-लडता मृत्यु प्राप्त करने वाला वीर सेनानी स्वर्ग के सिंहासन पर अधिकार कर लेता है"[1]—प्रलोभन का यह सब्ज बाग दिखलाया जा रहा था। और इस प्रलोभन के जाल मे पड़कर क्षत्रिय-वर्ग पारलौकिक स्वार्थ के लिए रक्त की नदियां बहाने मे भी अपना गौरव समझता था। महावीर ने इस भूल-भरी मनोवृत्ति पर भी प्रहार करते हुए कहा—"जो दुर्जय संग्राम मे लाखो योद्धाओ पर विजय पा लेता है, वह उसकी सच्ची विजय नही है। जो अपने-आप को जीतता है, वही उसकी परम विजय है।[2] अत' बाह्य युद्धो को छोडकर आत्मा से ही युद्ध करो। बाहर न लड़कर अन्दर मे ही लडो। अपने-आप पर विजय पाकर ही सच्चे सुख का द्वार खुलता है।[3] जिसने पांचो इन्द्रियो क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय पाकर दुर्जय आत्मा को

---

१—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं"

—गीता

२—जो सहस्सं सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ॥

—उत्तराध्ययन, ६/३४

३—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाण, जइत्ता सुहमेहए॥

—उत्तरा० ६/३५

जीत लिया, उसने सब-कुछ जीत लिया। यह विजय, वह विजय है, जो पराजय का कभी मुख नहीं देखती। यह एक बार की विजय अनन्तकाल की विजय का रूप ले लेती है।[1]

महावीर की इस आत्म-स्पर्शी एव तथ्यपूर्ण वाणी को सुन कर हजारो क्षत्रियो ने जीवन की सच्ची राह पाई। और वाह्य युद्धो से विमुख होकर वासनाओ और विकारो से लड़ने के लिए आत्म-युद्ध मे कूद पडे, सयम के महामार्ग पर चल पडे। बाहर मे न लड कर अन्दर मे ही लड़ने लगे और आत्म-विजेता होकर सच्चे वीर—महावीर बने।

---

१—पचिंदियाणि कोह माण मायं तहेव लोहं च।
दुज्जय चेव अप्पाणं, सव्व अप्पे जिए जिअं॥

—उत्तरा० ६/३६

## अहिंसा का विराट् रूप

भगवान् महावीर की अहिंसा शाब्दिक रूप से नकारात्मक होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से वह कोरा निषेधात्मक सिद्धान्त ही नहीं है, रचनात्मक तथा विधेयात्मक भी है, निर्माणकारी भी है। अहिंसा का एक पहलू निवृत्ति है और दूसरा पहलू प्रवृत्ति है। अहिंसात्मक प्रवृत्ति करते है, तो हिंसा से निवृत्ति उसके साथ रहती ही है। यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नहीं, तो उसका कोई मूल्य नहीं। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति होने पर ही उस प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है। इसी प्रकार प्रवृत्ति नहीं है, तो अकेली निवृत्ति की भी कीमत नहीं। रचनात्मक प्रवृत्ति और हिंसा से निवृत्ति दोनो के मिलने से ही संयमरूप चारित्र बनता है। चारित्र न एकान्त निवृत्तिरूप है, न एकान्त प्रवृत्तिरूप है। वहाँ हिंसा, असत्संकल्प, दुराचरण

से निवृत्ति होना है और अहिंसा, दया, करुणा, संयम, प्राणि-रक्षा विश्व-प्रेम में प्रवृत्ति भी करनी है।[१]

इस प्रकार महावीर की अहिंसा केवल 'जीओ और जीने दो' (Live and let live) तक ही सीमित नहीं है। वह तो विश्व-मैत्री का विराट् रूप धारण करके अखिल विश्व को अपनी गोदी में समेट लेती है।[२] 'जीओ और जीने दो' से आगे बढ़ कर दूसरों को जीवित रखने के लिए रक्षा, उदारता, सहयोग एवं सहायता का हाथ आगे बढ़ाने के लिए उत्प्रेरित करती है। अहिंसा का विशाल चिन्तन तो प्राणिमात्र के साथ आत्म-भाव और बन्धु-भाव की जीवित प्रेरणा प्रदान करता है।[३] दया, संयम, तप, त्याग, न्याय, नीति के सभी ग्राह्य गुणों की ओर प्रवृत्त करता है।[४] "जो तुम चाहते हो, वही सारा संसार

---

*१—एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।*
*असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥*

—उत्तरा० ३१-२

*२—मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।*

—आवश्यक-सूत्र

*३—सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।*
*पिहियासवस्स दंतस्स, पाव-कम्मं न बन्धइ॥*

—दशवै० ४/९

*४—खन्ती दया संजम बंभचेरं कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।*

—दशवै० ९/१/१३

चाहता है, जो तुम नहीं चाहते, उसे कोई भी नहीं चाहता[1] —यह आत्म-दृष्टि महावीर की अहिंसा में ओत-प्रोत होकर अखण्ड आत्म-जगत् की उज्ज्वल अनुभूति का विराट् आदर्श प्रस्तुत करती है।

---

४—ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि मा, एत्तियग्ग जिणसासणयं॥

—बृहत्कल्प०

## सत्य

अहिंसा और सत्य—ये जीवन की दो पाँखें हैं। अहिंसा की पाँख न हो, तो अकेले सत्य के पांख से साधना के क्षेत्र में उड़ान नहीं भरी जा सकती। और सत्य के अभाव में केवल अहिंसा के बल पर भी साधना-पथ पर गति-प्रगति नहीं हो सकती। दोनों के मेल से साधना का जीवन गति-शील बनता है। असत्य के परिहार और सत्य के स्वीकार पर बल देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"असत्य संसार में सभी सत्-पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है, और वह सभी प्राणियों के अविश्वास का स्थान है, इसलिए असत्य छोड़ देना चाहिए।[1] सदा अप्रमत्त

---

१—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥—दशवै ६/१२

तथा सावधान रह कर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।[1] यह सत्य ही लोक मे सारभूत है, जो महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।[2] जो विद्वान् सत्य-मार्ग पर चलता है, वह ससार-सागर को पार कर जाता है।[3] सत्य मे दृढ़ रहने वाला मेधावी साधक सब पापों को नष्ट कर डालता है[4]।

सत्य के नाम पर भी भगवान् महावीर ने एक बहुत बड़ी क्रान्ति की थी। दूसरे धर्म और दर्शन ईश्वर को प्रधानता दे रहे थे, सारे सदनुष्ठानो का केन्द्र भगवान् माना जा रहा था। साधना का लक्ष्य एकमात्र भगवान् को प्रसन्न करना था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय, उपासना, व्रत, सदाचार की सब धार्मिक क्रियाएँ उसे रिझाने के लिए ही चल रही थीं। व्यक्ति की पूजा को

---

१—*निच्चकालऽप्पत्तेणं, मुसावाय-विवज्जणं।*
*भासियव्वं हियं सच्च, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं॥*

—उत्तरा० १६/२६

२—*'सच्च लोगम्मि सारभूय, गभीरतर महासमुद्दाओ।'*

—प्रश्नव्याकरण

३—*'सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मार तरइ।'*

—आचाराग ३/३/१२

४—*'सच्चम्मि धिइ कुव्विहा, एत्थोवरए मेहावी सव्व पाव झोसइ।'*

—आचाराग ३/२/५

महत्व दिया जा रहा था, और उसे प्रसन्न करने के लिए जीवन मे हजारो गलतियाँ आ गई थी। भगवान् महावीर ने उस व्यक्ति-पूजा को तोड कर सत्य की उपासना का महान् आदर्श जनता के सामने रखा और अपनी जोरदार भाषा मे कहा—"सत्य ही भगवान् है।[1] वह भगवान् तो तुम्हारे मन-मन्दिर मे ही विराजमान है। अत उसी की एक निष्ठा से उपासना करो, उसी मे रत रहो, उसी मे दृढ रहो और उसी की प्राप्ति के लिए साधना करो।"

दूसरी बात। तत्कालीन धर्म-नेताओ और सत्य-वक्ताओ ने वाणी के सत्य को ही सत्य समझ लिया था। पहली मन की और अन्तिम आचरण की भूमिका गायब हो गई थी। सत्य, केवल वाणी पर नाच रहा था, मन और शरीर उसके प्रकाश से सूने थे। भगवान् महावीर ने इस भ्रान्त विचारधारा पर भी करारा प्रहार करते हुए कहा—"सत्य का महाप्रवाह तो त्रिवेणी के रूप मे प्रवाहित होता है। उसकी एक धारा मन मे, दूसरी वाणी पर और तीसरी धारा शरीर मे होकर बहती है। मन, वाणी और कर्म की एकरूपता पर चलने वाला सत्य ही वास्तविक सत्य है।[2] मन मे सत्य का सकल्प होना, सत्य सोचना—यह मन का सत्य है। जो अन्तर्मन मे है, वही जब बाहर बोला जाता है, तो वह

---

१— त सच्च खु भगव।

—प्रश्न व्याकरण

२— मणसच्चे वयसच्चे कायसच्चे।

वाणी का सत्य है। मन ने जो सत्य का रूप लिया था, जब वह मनरूपी कुए का पानी वाणी के डोल मे आएगा, तभी वाणी का सत्य बनेगा। और जब वह मन एव वाणी का सत्य शारीरिक व्यवहार और कर्म के रूप मे ढलता है, तो वह काया का सत्य बनता है। जो क्रोध से, हास्य से, लोभ अथवा भय से—किसी भी अशुभ सकल्प से असत्य नही बोलता, वही सच्चा ब्राह्मण है।[1] जहाँ ये तीनो शक्तियां कदम-से-कदम मिलाकर चलती है, वही जीवन सत्यमय, अमृतमय बनता है। जिसका मन भी सत्य का प्रकाश लेकर आत्मा की ओर दौडता है, वाणी भी ऋतम्भरा होकर आत्मा की ओर लपकती है और शरीर का प्रत्येक स्पन्दन सत्यमय होकर आत्मा की ओर गति करता है, वही सत्य का पूर्ण साधक है।[2]

केवल वाणी के सत्यवाग्मियो को सम्बोधित करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—"यदि तुम्हारे अन्दर क्रोध है, अभिमान है, हास्य, लोभ अथवा भय है, तो असत्य तो असत्य है ही, परन्तु उस स्थिति मे बोला गया सत्य भी असत्य ही है, क्योकि वहा अन्तर्जागरण नही है। क्रोध अपने-आप मे

१—*कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।*
*मुस न वयइ जो उ, त वय बूम माहण॥*
—उत्तरा० २५/२४

२—*'मणवयकायसुसवुडे जे स भिक्खू।'*
—दशवै० १०/७

असत्य है, अत उसके कारण से बोला गया सत्य भी असत्य ही है। अहकार अपने-आप मे असत्य है, अतः उससे प्रेरित होकर कहा गया सत्य भी असत्य ही है। हंसी, लोभ और भय अपने-आप मे असत्य है, एतदर्थ उनके कारण उगला हुआ सत्य भी असत्य ही है। कारण असत्य है, तो काय सत्य कैसे बनेगा? यद्यपि काणे को काणा, नपुसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना ऊपर से सत्य अवश्य प्रतीत होता है, पर उसके पीछे मन का एक दूषित भाव, चिढ़ाने की वृत्ति घृणा और नफरत काम कर रही है, इसलिए वह सत्य एकदम असत्य है।[1] हिंसाकारी, पीडाकारी, कठोर भाषा सत्य होती हुई भी असत्य है; क्योंकि उससे पाप का आश्रव होता है।[2] जिस सत्य से पाप का आगमन हो, वह सत्य ही कैसा? अनवद्य सत्य ही सर्वश्रेष्ठ सत्य है।[3] इसलिए साधक अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरो के लिए, क्रोध अथवा

---

१—*तहेव काणं काणेति, पडगं पडगे त्ति वा।*
*वाहिअं वावि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥*

—दशवै० ७/१२

२—*तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।*
*सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥*

—दशवैकालिक, ७/११

३—*दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,*
*सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति॥*

—सूत्रकृताग ६/२३

भय से—किसी प्रसंग पर भी दूसरो को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरो से बुलवाये।"[1]

---

१—अप्पणट्ठा परट्ठावा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

—दशवैकालिक, ६/१२

## अपरिग्रह

भगवान् महावीर ने जितना बल अहिंसा पर दिया है, उससे भी कहीं अधिक बल उन्होने अपरिग्रह पर दिया है। एक तरह से उनके अपरिग्रह का विकसित रूप ही अहिंसा है। परिग्रह का त्याग किये विना अहिंसा लूली-लगडी है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ हिंसा अपना अड्डा जमा ही लेती है। आत्मा को सब ओर से जकडने वाला परिग्रह सबसे बड़ा बन्धन है।[1] सयम और साधना के पथ पर चलने वाला जो साधक यदि किसी भी तरह का परिग्रह स्वयं रखता है, दूसरो से रखाता है, अथवा रखने वालो का अनुमोदन करता है, वह कभी भी दुःखो से मुक्त

---

१—'नत्थि एरिसो पासो, पडिवधो अत्थि सव्व-जीवाणं।'

—प्रश्नव्याकरण

नहीं हो सकता—अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर भगवान् महावीर की यह स्पष्ट घोषणा थी।[1]

भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद ससार-भर मे फैली हुई अनन्त इच्छाओ को नियंत्रित करता है। वह इस बात से इकरार करके चलता है कि मनुष्य जब तक संसार मे रहता है, तो जीवन मे कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ रहती ही है। आवश्यकताएँ जीवन के साथ जुडी हुई है। परन्तु, कुछ आवश्यकताएँ होती है, और कुछ बना ली जाती है। वे आवश्यकता है-इच्छाओ की, तमन्नाओ की, कामनाओ की, आसक्ति की, अन्धाधुन्ध सग्रह करने की। मनुष्य जब इन इच्छाओ को पूरा करने के पीछे पड़ जाता है, तब समाज, राष्ट्र और विश्व मे द्वन्द्व और सघर्ष होते है। क्योकि जहां शोषण, दोहन और इच्छाओ की घुड़दौड़ है, वहा अशान्ति एवं संघर्ष का होना अनिवार्य है। इसी आसक्ति तथा परिग्रह के वशीभूत होकर मनुष्य तलवार चमकाता हुआ समरभूमि मे उतरता है, दूसरे के अधिकारो को हडपने के लिए! मनुष्य, मनुष्य के खून से हाथ रगता है, इसी परिग्रह के कारण। जहाँ परिग्रह है, वहाँ दुनिया-भर के पाप आकर आसन जमा लेते है।

इसीलिए भगवान् महावीर के अपरिग्रहवाद की यह सर्व-प्रथम शर्त है कि—स्व-पर शान्ति के लिए पहले बढ़ती

१—चित्तमतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एव दुक्खाण मुच्चइ॥
—सूत्रकृताग १/१/१/२

हुई इन इच्छाओ पर नियंत्रण करो। इच्छाओं का परिमाण करो। जीवन को मर्यादित करो। जीवन की गाड़ी को ब्रेक लगाओ। बिना ब्रेक की गाडी स्व-पर के लिए बड़ा भारी खतरा है। अपरिग्रहवाद का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि इच्छाओ को तो नियंत्रित न करें, उन्हें दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ाते जायँ, संसार-भर मे फैलते जायें और इधर-उधर से जनता का क्रूरतापूर्वक शोषण करके थोड़ा-बहुत दान के रूप मे बखेर कर दानवीर बन बैठें। अपरिग्रहवाद की यह दुर्भाग्यपूर्ण व्याख्या है। एक ओर तो क्रूरता के लम्बे हाथ बढ़ाकर जनता से छीनते रहें, उसका सर्वग्राही शोषण करते रहे और फिर उन्हीं पर दान के रूप में बरसे। यह तो कोरा अहकार का पोषण है। अपरिग्रह तो अग्रहणमूलक है। यानी पहले अपरिग्रह के द्वारा जीवन को मर्यादित करो, जनता का अन्यायमूलक शोषण बन्द करो और फिर न्यायपूर्वक मर्यादित सग्रह मे से प्रायश्चित्त के रूप में जन-कल्याण के लिए कुछ त्याग करो—यह था अपरिग्रह की दृष्टि से दान का वास्तविक रूप, जिसका दूसरी भाषा मे अर्थ होता है—त्यागपूर्वक भोग!

भगवान् महावीर ने अपरिग्रह के सिद्धान्त को जन-योग्य बनाने के लिए उसका भी पूर्ण एवम् अपूर्णरूप में वर्गीकरण किया। भिक्षु पूर्ण परिग्रह का त्यागी है और मर्यादापूर्वक अपूर्ण परिग्रह का त्यागी श्रावक है। दोनो ही आसक्ति की गांठ को तोड़ कर जीवन-विकास की पगडंडी पर गति कर रहे है।

## अनेकान्त

मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन करने के लिए भगवान् महावीर की अहिंसा त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित हुई थी। पहली जीवदयारूपी नैतिक अहिंसा—जिसके द्वारा स्व-पर के क्लेश एवं मनस्तापों का मार्जन करने के लिए जीवन के कण-कण में करुणा, दया, मैत्री, उदारता एवं आत्मौपम्य भाव का निर्मल झरना बहने लगता है। दूसरी अनेकान्त-रूपी बौद्धिक अहिंसा—जिसके द्वारा विचारों का मालिन्य तथा कालुष्य धोकर पारस्परिक विचार-संघर्ष का नामशेष हो जाता है, तीसरी तपस्यारूपी आत्मिक अहिंसा—जिसके द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-मल का परिशोधन करके आत्मा को माँजा जाता है, पूर्णत शुद्ध किया जाता है।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-नेताओं और विद्वत्समाज में जो विचार-संघर्ष चल रहा था, विचारों की हिंसा का जो गन्दा नाला बह रहा था, 'मेरा सो सच्चा' की जो तपेदिक, शास्त्र-चक्षुओं के मन-मस्तिष्क में घर करती जा रही थी, एक-दूसरे के सत्योन्मुख विचारों के प्रति भी असहिष्णुता का जो जहर बढ़ता जा रहा था, उस महारोग को जड़ से मिटाने के लिए महावीर ने अनेकान्त का अमृत-रस प्रदान किया था।

महावीर का यह अनेकान्त सत्य का सजीव भाष्य है। यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मंजिल पर पहुँचने के लिए एक प्रकाशमान् महामार्ग है। दूसरे शब्दों में, अनेकान्त सब दिशाओं से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यों को देख लेता है। अनेकान्त में संकीर्णता को पैर टेकने के लिए जरा भी स्थान नहीं है। वहां तो मन का तटस्थ भाव एवं हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है। यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि उपादेय है, ग्राह्य है। जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति व्यक्ति या शास्त्र में क्यों न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की। सत्य की इस आपेक्षिक दृष्टि का दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है।

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि सत्य अनन्त है। हम अपने इधर-उधर चारों ओर से जो कुछ भी जान पाते हैं, वह सत्य का पूर्ण रूप नहीं, प्रत्युत उस अनन्त सत्य का एक अंश-मात्र है।

है। सत्य के विभिन्न पहलुओ का समन्वय ही अनेकान्त है। अनेकान्त मनुष्य को एकाङ्गिता से बचाता है, और दूसरे पक्ष मे भी सत्य खोजने के लिए उद्यत करता है। दूसरे पक्ष के सत्य को स्वीकार न करने के कारण ही परस्पर मे द्वन्द्व, सघर्ष और लड़ाई-झगडे की भावना जन्म लेती है। जिस मात्रा मे दूसरे पक्ष की स्वीकृति होती है, उसी अंश मे सघर्ष की संभावना कम हो जाती है। परन्तु, वह समन्वय सत्य की शोध पर आधृत होना चाहिए, सत्य के अनुकूल होना चाहिये। अन्ध समन्वय बेमेलपन उत्पन्न कर देगा। आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति के लिये विभिन्न पक्षो के सत्याश की खोज और उनकी उदार स्वीकृति आवश्यक है। तथ्य-मूलक विचारो का यह समन्वय और समझौते की भावना ही अनेकान्त है—जो भगवान् महावीर की एक दिव्य देन है।

## जातिवाद का विरोध

तत्कालीन समाज मे चारों ओर जातिवाद का बोलबाला था। जाति-पाँत की संकीर्ण सीमाएँ, वर्ण-भेद की अमानवीय विषमताएँ, ऊँच-नीच की दानवी भावनाएँ, छूआ-छूत की मनमानी कल्पनाएँ मानव-समाज की नस-नस मे गहरी पैठ गई थीं। धर्म-नेता पुरोहितो के हाथ में समाज की सारी शक्ति केन्द्रित थी। समाज के सूत्रधार और भाग्यविधाता होने के नाते उन्होंने मनचाही करने मे कोई कमी न उठा रखी थी। उनकी यह सार्वभौम शक्ति न योग्यता पर निर्भर थी, न सेवा पर और न सदाचार और सत्कर्म की उच्च मर्यादाओं पर। वह थी एक-मात्र बपौती पर आधारित। इस शक्ति का प्रयोग

पुरोहित-वर्ग ने इतनी उच्छृङ्खलता के साथ किया, कि जिससे दूसरे अच्छी तरह सास भी न ले सके। वहाँ ब्राह्मण के यहाँ जन्म ले लेने मात्र से पवित्रता एव उच्चता का मानपत्र मिल जाता था; फिर चाहे वह कितना ही पथ-भ्रष्ट क्यो न हो। शास्त्रो के पठन-पाठन का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण-वर्ग को ही था और शूद्र, वह चाहे कितना ही सच्चरित्र, योग्य एव प्रभावशाली क्यो न हो, वेद पढ़ना तो दूर, यदि वह कही वेद-मन्त्र सुन भी ले, तो उसके कानो मे उबलता हुआ गरम-गरम शीशा भर दिया जाता था। शूद्रो की छाया तक से परहेज किया जाता था। आम रास्तो पर चलने तक की उनके लिए मनाही थी। जन्म जात पवित्रता और जाति-पाँत तथा ऊँच-नीच की आसुरी सीमाओ ने मानवता के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे।

भगवान् महावीर ने इस असामाजिक, अमानवीय एवं अधार्मिक समाज-व्यवस्था का प्रबल विरोध किया। जाति-पाँत के भेद-भावो को अमान्य ठहराते हुए सार्वजनिक मच से उन्होने जलती हुई भाषा मे कहा—"मानव-जाति एक है, अखण्ड है। उसमे ऊँच-नीच की कल्पना करना सत्य का गला घोटना है। जाति से न कोई उच्च है और न नीच। जन्म से न कोई पवित्र है न अपवित्र। मानव-जाति की उच्चता सदाचरण, धर्म-कर्म तथा योग्यता पर आधृत है। कर्म (आचरण) से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से वैश्य होता

है और कर्म से ही शूद्र ।[1] ब्राह्मण की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—"जो आने वाले स्नेही जनो मे आसक्ति नही रखता, और जाने पर शोक नही करता, जो सदा आर्य-वचनो मे रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।[2] जो अग्नि मे तपाकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर परखे हुए सोने की तरह निर्मल है; जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।[3] जो जगम-स्थावर सभी प्राणियो को भली-भाति जानकर, उनकी मन-वचन-तन से कभी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।[4] जो क्रोध से, हास्य से, लोभ अथवा भय से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।[5] जो सचित्त-अचित्त कोई भी पदार्थ—चाहे वह थोडा हो या ज्यादा—स्वामी के दिये

---

१—कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥
उत्तरा० २५/३३

२—जो न सज्जई आगतुं, पव्वयंतो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥

३—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमल-पावगं ।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥

४—तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥

५—कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥
उत्तरा० २५/२०/२१/२३/२४

बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।[1] जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन-भाव का मन-वचन-काय से कभी सेवन नहीं करता; उसे हम ब्राह्मण कहते है।[2] जैसे कमल जल मे उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नही होता; उसी प्रकार जो ससार मे रहता हुआ भी काम-वासना से अवलिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।[3] जो स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धो को, जाति-बिरादरी के मेल-मिलाप को, बन्धु-जनो को एक बार त्यागकर फिर उनके प्रति कोई आसक्ति नहीं रखता, दोबारा काम-भोगो मे नहीं फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।[4]

जातिवाद का खण्डन करते हुए भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे जातीयता को घृणास्पद बताया है। आठ मदो मे

---

*१—चित्तमतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहु।*
*न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं॥*

*२—दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।*
*मणसा-काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥*

*३—जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।*
*एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥*

*४—जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बन्धवे।*
*जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं॥*

—उत्तरा० २५/२५/२६/२७/२९

सर्वप्रथम जातिमद के प्रति उनका अभिप्राय यह है कि जाति-मद मनुष्य के घोर अध पतन का कारण है। जो जाति-मद से ऐंठ कर चलते है, वे इस लोक मे भी अपना उच्च व्यक्तित्व खो बैठते है, और परलोक मे भी बार-बार नरक-तिर्यञ्च आदि नीच गतियो मे घोर यातनाएँ झेलते हैं।[१]

भगवान् महावीर मानवीय समता का कोरा उपदेश देकर रह गये हो, ऐसी बात नही है। वहाँ तो जो विचार मे था, वही आचार मे था। कथनी और करनी का अद्वैत ही उनकी पूर्णता का द्योतक था। आर्द्रकुमार जैसे आर्येतर जाति के युवकों को बिना किसी हिचकिचाहट के भिक्षु-संघ मे सम्मिलित कर उन्होने जन-जीवन के समक्ष एक सच्चा और क्रियात्मक आदर्श रखा था। हरिकेशी जैसे चाण्डाल-कुलोत्पन्न और अर्जुनमाली जैसे पापी को भी भिक्षु-संघ मे दीक्षित कर ब्राह्मण कुलोद्भव इन्द्रभूति गौतम के बराबर स्थान प्रदान कर—उन्होने जो-कुछ कहा, वह करके भी दिखा दिया। ब्राह्मण और क्षत्रियो के अतिरिक्त उनके अनुयायी अनेक गाथापति ( कृषिप्रधान वैश्य ), कुम्हार, लुहार, जुलाहे, माली, किसान आदि कर्मकर लोग थे, जो वीर-शासन की शरण मे आकर धन्य-धन्य हो उठे थे। शास्त्रो में एक भी उदाहरण ऐसा नही मिलता, जहाँ भगवान् महावीर किसी राजा-महाराजा या ब्राह्मण के महलो मे विराजे हो। वे स्वयं नगर से

१—"पुणो पुणो विप्परियासुवेति।"

—सूत्रकृताग १/१३/१२

बाहर लुहार, बढई, जुलाहे और कुम्हार की शालाओ मे ठहरते थे, और उन्हे धर्मोपदेश देकर धर्म-मार्ग पर लगाते थे। पोलासपुर मे सद्दालपुत्त नामक कुम्भकार की भाव-भरी प्रार्थना पर भगवान् महावीर उसकी निजी कुम्भकार शाला मे जाकर ठहरे थे। वही पर उसे मिट्टी के घडो का प्रत्यक्ष दृष्टान्त देकर धर्मोपदेश दिया और अपना उपासक बनाया। भविष्य मे यही कुम्भकार भगवान् के श्रावको मे मुख्य हुआ और श्रावक-सघ मे उच्च गौरव प्राप्त किया।

भगवान् महावीर जहाँ भी जाते, अपने सार्वजनिक प्रवचनो मे इस मानवीय समतावाद पर अत्यधिक बल देते थे। चाण्डाल-कुलोत्पन्न, शासन के शृंगार महातपस्वी भिक्षु हरिकेशी की ओर अगुली-निर्देश करते हुए पावापुरी की महती सभा मे उन्होने ब्राह्मणो को चुनौतीपूर्ण स्वर मे कहा था—"जात्यभिमानी ब्राह्मणो! आओ और देखो! यह हरिकेशी मुनि चण्डाल-कुल मे जन्म लेकर भी अपनी सयम-साधना और जितेन्द्रियता के बल पर कितना ऊँचा उठा है, उत्तम गुणो का धारक एक महान् मुनि और उच्च भिक्षु बना है।[१] जन्मजात पवित्रता का पक्षपाती कोई भी व्यक्ति आकर देख ले कि—"जीवन मे तपस्या की विशेषता, महत्ता और गरिमा प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही है, जाति

---

*१—सोवागकुल-संभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।*
*हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ॥*

उत्तरा० १२/१

की विशेषता नही। इस मुनि के मुख-मडल पर संयम-साधना और तपस्या का प्रकाश अठखेलियाँ कर रहा है, जात-पॉत का बन्धन कही भी बाधक नही बना है। यह हरिकेशी मुनि चाण्डाल-कुल मे उत्पन्न हुआ था, जिसकी तपस्या की ऋद्धि-सिद्धि इतनी चमत्कारपूर्ण है।[1]

भगवान् महावीर की देशना-सभा मे मानवीय समता साकार हो उठती थी। उनकी प्रवचन-सभा को 'समवशरण' इसी लिए कहा जाता था कि वहां मानवमात्र को समान रूप से शरण —जगह मिलती थी। वहॉ वर्ण-भेद, जाति-भेद, ऊँच-नीच भेद, राजा-रक भेद के आधार पर अलग-अलग श्रेणियॉ नही थीं। मानव-मात्र के बैठने के लिए एक ही जगह थी, और एक-सी ही व्यवस्था थी। समवशरण के वातावरण से यह सत्य स्पष्ट प्रतिभासित होता था कि—मानव-जाति एक है, अखण्ड है, उस मे ऊँच-नीच या जात-पॉत की कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती।"

भगवान् महावीर के इस जाति-विरोधी आन्दोलन ने विषमतामूलक वर्ण-व्यवस्था को जड से हिला दिया था। "मानव-मानव एक, अहिंसा, सत्य और प्रेम सब का धर्म" महावीर के इस साम्य-मूलक सिद्धान्त से आकृष्ट हो कर धर्म-पिपासु जनता उस

---

१—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेसु कोई।
सोवागपुत्त हरिएस साहु, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
उत्तरा० १२/३७

युग-पुरुष से धर्म का प्रकाश पाने के लिए लाखो की संख्या मे उमड पडती थी। सचमुच, मानवीय समतावाद को सर्वोच्च मान देकर महावीर ने मानव-जाति के इतिहास मे एक क्रान्त-अध्याय का सूत्रपात किया था।

## मातृ-जाति के प्रति न्याय

मातृ-जाति के प्रति भगवान् महावीर बडे ही उदार विचार रखते थे। उस युग मे नारी-जाति की अत्यन्त दयनीय स्थिति थी। मायावी, कामाग्नि और साक्षात् नरक-मूर्ति आदि मनमाने अपशब्द कहकर उसका पग-पग पर अपमान और उपेक्षा की जाती थी। सामाजिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो मे वह अपने सब अधिकारो से सर्वथा वञ्चित थी, न उसे पवित्र धर्म-ग्रन्थो के पठन-पाठन का अधिकार था, न ही उच्च आध्यात्मिक क्षेत्र मे अग्रसर होने का अधिकार था, और न धर्म-कर्म करने का। कदम-कदम पर उसके लिए दासता की बेडिया बिछी थीं।

भगवान् महावीर ने इस सामाजिक एव धार्मिक अन्याय

के मूल पर प्रहार कर अपनी न्याय की भाषा मे कहा—"पुरुष के समान नारी को भी धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे समान अधिकार है। मातृ-जाति को हीन, पतित तथा और कुछ समझना कोरी अबुद्धिमत्ता है। सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रो मे पुरुष और नारी दोनो समान रूप से गति-प्रगति कर सकते है। विकास की दृष्टि से जहाँ तक एक पुरुष जा सकता है, वहाँ तक नारी भी अबाध गति से दौड़ लगा सकती है। जो एक पुरुष कर सकता है, वह एक नारी भी कर सकती है। जो पुरुष बन सकता है, वह नारी भी बन सकती है। दोनो के बीच छोटे-बड़े या ऊँच-नीच की विभेदक दीवार खड़ी नही की जा सकती। धर्म-कर्म और आत्म-विकास का सम्बन्ध शरीर से नही, आत्मा से है। धर्माराधन और आत्म-उन्नयन मे पुरुष की तरह नारी भी स्वतन्त्र है। वासना, विकार और कर्म के जाल को काटकर मुक्ति पाने के दोनो ही समान-भाव से अधिकारी है।"

चिर-तिरस्कृता मातृ-जाति को भगवान् महावीर के समता-मूलक शासन की छत्रछाया मे सुख की सास लेने का सुवर्ण अवसर हाथ लगा। भगवान् महावीर ने भिक्षु-सघ की तरह एक स्वतन्त्र भिक्षुणी-संघ का भी निर्माण किया था। जिसमे छत्तीस हजार भिक्षुणियाँ सयम और तप के जलते हुए महामार्ग पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ाकर कर्म-शत्रु से लड रही थी। भिक्षुणी-सघ की अधिनेत्री महासती चन्दनबाला थी, जो स्वतन्त्र रूपेण समस्त भिक्षुणी-सघ की देख-रेख करती थी। भगवान् महावीर

के संघ में जहाँ भिक्षुओ की संख्या चौदह सहस्र थी, तो भिक्षुणियों की संख्या छत्तीस सहस्र थी। श्रावकों की संख्या एक लाख पचास हजार थी, तो श्राविकाओ की संख्या तीन लाख से ऊपर थी। भगवान् महावीर के शासन और धर्म-देशना मे मातृ-जाति के लिए कितना आकर्षण था, कितना ऊँचा मान था, उपर्युक्त संख्या पर से भली-भाँति इस बात का अनुमान किया जा सकता है!

भगवान् महावीर के समवशरण (उपदेश-सभा) से भी स्त्रियो के लिए पुरुषो के समान पूर्ण स्वतंत्रता थी। विना किसी संकोच और प्रतिबन्ध के वे उसमें आ-जा सकती थी, उपदेश-श्रवण कर सकती थीं और खुले रूप मे प्रश्न पूछ कर अपने मन का समाधान कर सकती थी। बीच में ऐसी कोई बात नहीं थी, जिस से नारी अपने-आप मे कुछ भी अपमान एवं तिरस्कार का अनुभव करे।

निस्सन्देह, श्रमण भगवान् महावीर ने मातृ-जाति को ऊँचा उठाकर यह सिद्ध कर दिया कि उस मे भी शक्ति है। वह अपनी तीव्र श्रद्धा और भावना-वेग से चाहे जो कर सकती है और साथ ही अपने असीम मातृ-प्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवं शक्ति-प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित-साधन कर सकती है।

बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। ससार का उत्थान-पतन उसी के इशारे पर हो रहा है। अच्छा-बुरा सब ईश्वर करता है। यह जीव अज्ञ होने के कारण अपने सुख-दुःख का स्वामी नही है। इसका स्वर्ग या नरक जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है।[१] मनुष्य तो पामर प्राणी है, अत वह कर भी क्या सकता है? उसे तो सर्वतोभावेन अपने-आपको ईश्वर के हाथो मे अर्पण कर देना चाहिये। उसकी कृपा ही इसकी बिगडी को बना सकती है। उसकी प्रार्थना करो, पर चाहे भक्ति और धर्म-कर्म के नाम पर कितना मर-खप लो, आखिर, ईश्वर, ईश्वर रहेगा और भक्त, भक्त। ईश्वर और भक्त के बीच की फौलादी दीवार कभी टूट नहीं सकती।' भारत के इस छोर से उस छोर तक इन नपुसंक एवं हीन विचारो की गूंज थी।

भगवान् महावीर ने इस पुरुषार्थहीन एव दासतापूर्ण विचारधारा का डट कर विरोध किया। उन्होने मनुष्य की अन्तरात्मा को झकझोरते हुए अपने सुहास्वर में कहा—"मनुष्यो! तुम स्वय ईश्वर हो। प्रत्येक आत्मा मे परमात्म-तत्त्व अगडाई ले रहा है।[२] तुम स्वयं अपने भाग्य-विधाता हो। अपनी सृष्टि का निर्माण स्वय तुम्हारे हाथो मे रहा हुआ है।

१—अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

—महाभारत

२—'अप्पा सो परमप्पा।'

तुम जो चाहो, बन सकते हो, जो चाहो, कर सकते हो। तुम स्वयं-सिद्ध ईश्वर हो। अपने उत्थान-पतन का सारा दायित्व तुम्हारे अपने कन्धों पर है। तुम्हारी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट-शाल्मली वृक्ष है। और तुम्हारी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुधा धेनु तथा नन्दन वन है।[1] आत्मा ही अपने सुख-दु:ख का कर्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु है।[2] सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में आसक्त आत्मा करती है।[3] संयम मूलक पुरुषार्थ के द्वारा अहिंसा, सत्य और तप के मार्ग के पुनीत पथ पर आगे बढ़ते हुए तुम आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन सकते हो, सिद्ध हो सकते हो।[4] आत्म-विकास की सर्वोच्च परिणति ही तो परमात्म-तत्त्व है। तुम तो ईश्वर के भी ईश्वर हो, क्योंकि अन्तर में सोये हुए ईश्वरीय भाव की खोज

---

१—*अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।*
*अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥*
—उत्तरा० २०/३६

२—*अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।*
*अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ॥*
—उत्तरा० २०/३७

३—*'न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुरप्पा।'*
—उत्तरा० २०/४८

४—*चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया।*
*तवसा धुय-कम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए॥* —उत्तरा० ३/२०

इस दो हाथो वाले मनुष्य ने ही की है। मिट्टी के ढेले की तरह तुम्हे कोई उठा कर हिमालय की चोटी पर रख देगा—इससे बढकर कोई भ्रान्ति नही हो सकती। अगर तुम्हे कोई दूसरी शक्ति उठा सकती, तो तुम अब तक कभी के उठ गये होते। जीवन की ऊंचाइयो को तुम्हे स्वयं पार करना है।

यह सृष्टि अनादि-अनन्त है। न कभी बनी और न विगड़ेगी, नष्ट होगी। इसके ह्रास-विकास का खेल इसी प्रकार अपने-आप चलता रहा है, चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। जो लोग जगत् को किसी अन्य अलौकिक शक्ति के द्वारा रचित मानते है, वे वस्तु-स्वरूप को नही जानते। क्योकि यह जगत् कभी भी विनाशी नहीं है।[१] इसकी रचना मे किसी ईश्वरीय शक्ति का हाथ मानना एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। यदि सर्व-शक्तिमान्, दयालु ईश्वर ही इस सृष्टि का निर्माता है, तो उसने समूचे संसार को सुखमय बनाकर अपनी सर्वशक्तिमत्ता एव दयालुता का सक्रिय परिचय क्यो नही दिया? उस दयालु की सृष्टि मे पापाचार, दुराचार, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, अन्याय, शोपण, उत्पीड़न, निर्धनता, भुखमरी और हाहाकार क्यो है? इसका अर्थ यही तो है कि संसार का सब खेल मनुष्य के अपने कर्मों के अनुसार बनता-विगड़ता रहता है। शुभ कर्म

१—सएहिं परियाएहिं, लोय बूया कडेति य।
तत्त' ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥

—सूत्रकृतांग १/१/३/६

से सुख मिलता है और अशुभ कर्म से दुःख मिलता है।[1] कर्म-फल देने के लिए भी ईश्वर को न्यायाधीश बनाने की आवश्यकता नही है; क्योकि जैसे आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है, वैसे ही उसका फल भोगने मे भी स्वतंत्र है।

भगवान् महावीर के इस जिन्दा पुरुषार्थ-वाद ने मनुष्य के भाग्य को ईश्वर के हाथ से निकालकर स्वय मनुष्य के हाथो को सौंप दिया। हजारो-लाखो मनुष्यो को ईश्वर की गुलामी से छुड़ाकर आत्मा का सच्चा पुजारी बनाया। अनेक साधक मनुष्यत्व से ईश्वरत्व की ओर बढ़ने के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने के लिए त्याग-वैराग और संयम-तप की जलती हुई पगदडियो पर दौड़ चले! नर से नारायण और भक्त से भगवान् बनने के आशामय सन्देश ने हजारो साधको के हताश-निराश मनो मे आशा के दीप जला दिये।

---

१—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति॥

—औपपातिक सूत्र

## भाषा-मूलक क्रान्ति

भगवान् महावीर ने अपनी उदात्त एवं क्रान्त वाणी के सजीव स्पर्श से जीवन के किसी भी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा। मानव-समाज का सर्वतोभद्र हित साधने के लिए ही तो वे तीर्थंकर के रूप मे धर्म-प्रचार के सार्वजनीन रगमच पर चमके थे। एक क्रान्तिकारी विचारधारा के उन्नायक होने के नाते जहाँ उन्होंने तत्कालीन अनेक रीति-रिवाजो, धार्मिक विधि-विधानो और मानवीय दृष्टि-कोणो मे न्याय-मूलक सुधार किये; वहाँ भाषा के नाम पर भी एक बहुत बड़ी क्रान्ति की। पण्डित-वर्ग की सस्कृत भाषा—जिसे वे देवभाषा कहते थे—को छोड कर लोक-भाषा मे धर्म-प्रचार भी उनका एक महत्वपूर्ण सुधार था। अपने पूर्ववर्ती तीर्थङ्करो के समान ही भगवान् महावीर ने जनता

के अत्यन्त निकट पहुँचने की दृष्टि से, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, पठित, अपठित जनसाधारण तक विशुद्ध आत्म-धर्म का प्रकाश पहुँचाने के न्याय्य विचार से जनता की बोल-चाल की प्राकृत भाषा को ही धर्म-प्रचार के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा। और भाषा मद तथा विद्या-मद पर कठोर प्रहार किए। उन्होने पण्डित-वर्ग को उद्बोधित करते हुए कहा—"ये चित्र-विचित्र भाषाएँ, तुम्हारा त्राण नही कर सकती।[1]

भगवान् महावीर जहाँ भी जाते, जनता की भाषा मे ही अपने विचार प्रस्तुत करते थे। इससे 'देव-वाणी, के नाम पर पुजने वाली भाषा का सिंहासन हिल उठा और जन-भाषा जनता मे प्रतिष्ठित हो चली। उनके प्रवचन लोकभाषा मे होने के कारण उसमे किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नही थी। श्रोता सीधे उनकी बात सुनते, समझते और हृदयंगम कर लेते थे। उस युग मे आज के वैज्ञानिक साधनो का अभाव होते हुए भी भगवान् महावीर का उपदेश तथा शासन इतनी शीघ्रता के साथ लोकप्रिय हो गया था, उसका एक कारण यह भी था कि उनके सीधे-सादे धार्मिक प्रवचनो ने जन-हृदय को छू लिया था। वस्तुत. भगवान् महावीर ने अपने धर्म को जैन-धर्म और भाषा को जन-भाषा का रूप देकर एक रचनात्मक क्रान्ति का आवाहन किया था, जिसका कोटि-कोटि जनता ने मुक्त हृदय से स्वागत किया।

---

१—"न चित्ता तायए भासा।" —उत्तरा० ६।११

## पवित्रता की राह

ब्राह्मण-संस्कृति और पुरोहितवाद का बोल बाला होने के कारण जन-मन पर बाह्य शुद्धि का भूत बेतरह छाया हुआ था। बाह्य शुद्धि को, स्नान को धर्म का रूप दे दिया गया था। लोग तीर्थों में जाकर डुबकी लगाते, और समझते कि बस हम पवित्र हो गये हैं, क्योंकि तीर्थ-स्नान करके हमने एक बहुत बड़ा धर्म कर लिया है। डुबकी लगाने की बात भी नहीं थी, सौ योजन दूर से भी जो गङ्गा का नाम-मात्र भी यदि ले ले, तो वह सब पापों से मुक्त होकर सीधा विष्णुलोक को चला जाता है[1]—

---

१—*गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।*
*मुच्यते सर्वपापेभ्यो, विष्णुलोकं स गच्छति॥*

—विष्णुपुराण

ऐसे थोथे सिद्धान्त गढ़ लिए गये थे। और इस भूल-भुलैया में पड़कर जन-वर्ग आत्म-शौच को पीठ देकर शरीर-शौच की ओर दौड़ रहा था। शुद्धि का मार्ग अन्दर न खोज कर बाहर ढूँढता फिर रहा था। जख्म था कही और तथा मरहम लगाया जा रहा था कही और!

भगवान् महावीर ने समाज की इस भूल पर भी करारी चोट की और अपनी तथ्यपूर्ण भाषा में कहा—"यदि सायं-प्रातः तीर्थ-जल मे डूबकी लगाने से सिद्धि मिल जाती है, तो पानी के स्पर्श से सारे जलचर प्राणी—जो निरन्तर जल मे ही रहते है—सीधे मोक्ष मे चले जाने चाहिएँ।"[1] जल-स्नान से आत्म-शुद्धि समझना एक विशुद्ध भ्रान्ति है। बाह्य शुद्धि का जीवन की पवित्रता से कोई सम्बन्ध नही है। वास्तविक शुद्धि तो अन्तर की है। शुद्धि की साधना भी अन्दर ही है और शुद्धि भी अन्दर से ही होती है। काम, क्रोध, मद, लोभ, राग-द्वेष, विकार-वासनाओं का मैल कहाँ लगा है? यदि वह मैल शरीर पर लगा होता, तो तीर्थ-स्नान से ही क्या, कही भी जल-स्नान करने से साफ हो जाता। वह मैल तो आत्मा पर लगा है, और उसे धोने के लिए सब से बड़ा तीर्थ भी तुम्हारी आत्मा ही है। क्योंकि उसी में तो बहती है शील, सयम, अहिंसा और सत्य

---

१—उदगेण ये सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पाय च उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झिसु पाणा बहवे दगसि
—सूत्रकृतांग

की निर्मल धवल धाराएँ! आत्मा मे डुबकी लगाओगे, तो पवित्र ही नही, पवित्रतम बन जाओगे। आत्म-शुद्धि के लिए एक इच भी इधर-तिधर जाने की आवश्यकता नही है। तू जहं है, वहीं आत्मा मे डुबकी लगा, जहां अहिंसा और ब्रह्मचर्य की अमृत गङ्गा बह रही है। "धर्म ही जलाशय है, ब्रह्मचर्य ही शान्ति-दायक तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्याएँ ही पवित्र घाट है, उसमे स्नान करने से आत्मा विशुद्ध, निर्मल, निर्दोष होकर परम शान्ति का अनुभव करता है।"[१] "यही सच्चा स्नान है ऋषियो का महास्नान है, जिससे महर्षि लोग परम विशुद्ध होकर सिद्धि-लाभ करते है, कर्म-मल को धोकर मोक्ष प्राप्त करते है।"[२]

---

१—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेस्से।
जहि सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥
—उत्तरा० १२/४६

२—एय सिणाण कुसलेहि दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहि सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥
—उत्तरा० १२/४७

## साधना के नये मोड़

यह युग देव-पूजा का युग था। अपनी गौरव-गरिमा और महत्ता का मूल्यांकन न कर मनुष्य देवताओं के आगे गिड़-गिड़ाता फिर रहा था। उसके सारे धार्मिक अनुष्ठान और साधनाएँ देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, स्वर्ग पाने के लिए ही हो रहे थे। इससे आगे, मनुष्य की आँखों के सामने जीवन का कोई उच्च आदर्श नहीं रह गया था।

भगवान महावीर ने भोग के रूप में [illegible] इस क्रिया-काण्ड का तीव्रतम विरोध करते हुए कहा—'मानव जीवन के [illegible] महान है; [illegible] जीवन में [illegible] [illegible]

भोग योनि के प्राणी हैं। उनके आगे गिड़गिड़ाकर भोग-याचना करना मानवता का सबसे बडा अपमान है। मनुष्य जीवन की गरिमा भोग में नहो, त्याग मे है। कामनाओं के जाल मे उलझे रहना नही, प्रत्युत संयम-मूलक-साधना के द्वारा कामनाओ के नागपाश को तोडकर देवाधिदेव बनने में है। धर्म उत्कृष्ट मगल है और वह धर्म है—अहिसा संयम और तप। इस त्रिविध धर्म मे जिनका मन रम गया है, देवता भी उसे नमस्कार करते हैं।[1] भोग हमेशा त्याग के चरणो मे झुकता आया है। जीवन की कठोर साधना के राह पर चलने वाला जो साधक दुश्चर ब्रह्मचर्य-व्रत की नैष्ठिक साधना करता है, देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर समस्त दैवी शक्तियाँ उसके चरणों में झुक जाती है।"[2]

धर्म, जो केवल परलोक की ही चीज बन गया था, ऐहिक जीवन से जिसका सम्बन्ध कट गया था—महावीर ने धार्मिक क्षेत्र में पनपने वाली इस उधार वृत्ति के प्रति भी असहयोग करते हुए नक़द धर्म का प्रतिपादन किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—"सच्चा आत्म-धर्म तो नकद धर्म है।

---

*१—धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।*
*देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥*

—दशवै० १।१

*२—देव-दाणव-गंधव्वा जक्खर-क्खस्स-किन्नरा।*
*बंभयारिं नमसंति, दुक्करं जे करंति ते॥*

—उत्तरा० १६।१६

पहले वह यहाँ शान्ति प्रदान करता है, पीछे परलोक मे । आत्म-दमन करने वाला सयमी साधक पहले यहाँ सुखी होता है, तत्पश्चात् परलोक में ।[१] धर्म-साधना एवं त्याग-वैराग्य से मानव-आत्मा पहले यहाँ उत्तम बनती है, पीछे परलोक मे ।[२] यदि तुम अपने ऊपर नियन्त्रण रखो । क्रोध को क्षमा से जीतो, मृदुता से अभिमान को दूर करो, सरलता से माया का नाश करो, और सन्तोष से लोभ को वश में करो, तो तुम्हे तत्क्षण यही शान्ति का अनुभव होगा । आत्मा आनन्द के क्षीर-सागर मे डुबकियाँ लगाने लगेगी ।[३] सच्चा साधक, आचार का पालन न इस लोक का एषणा के लिए करता है, न परलोक की पार्थिव कामना के लिए और न ही कीर्ति, यश, मान-प्रतिष्ठा के लिए ही । केवल आत्म-शुद्धि, कर्म-निर्जरा और वीतराग भाव के लिए ही वह आचार की महान् पगडंडी पर अपने कदम बढ़ाता है ।[४]

---

१—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥
—उत्तरा० १/१५

२—"इहसि उत्तमो भते, पच्छा होहिसि उत्तमो ।"
—उत्तरा० ६/५८

३—उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं सतोसओ जिणे ॥

४—न इहलोगट्ठियाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्तीवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहतेहिं हेऊहिं अयारमहिट्ठिज्जा ।
दशवै० ६/४/५

महावीर ने जन-मन के समक्ष सार्वभौम धर्म का महत्तम आदर्श रखा था। उनके ज्योतिर्मय सन्देश मे मानवीय चेतना की समानता, समत्व की मौलिक भावना, सार्वजनीनता तथा सार्वभौमता का प्रकाश अठखेलियाँ कर रहा है। वह किसी जाति, सम्प्रदाय या वर्ग की बपौती बनकर नही रहा। उसकी दृष्टि मे मनुष्य, मनुष्य है और कुछ नहीं। उन्होने धर्म की कसौटी पुराने पोथी-पन्ने, बाह्य आडम्बर अथवा किसी विशेष क्रिया-काण्ड-साधना को नहीं बतलाया, प्रत्युत धर्म का केन्द्र-बिन्दु आत्म-भावनाओ को बतलाया और आत्मानुशीलन, आत्म-दमन तथा कपाय-विजय को ही सर्वोच्च धर्म उद्घोषित किया। जिसके श्रवण करने पर आत्मा मे तप, अहिसा और क्षमा की उज्ज्वल भावनाएँ जागती है, वही सच्चा धर्म है।[1] साधक क्रोध से आत्म-रक्षा करे, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ को छोड दे—यही उसका विशुद्ध आत्म-धर्म है।[2]

बुद्धिवाद और अवर्गवाद ही महावीर के सार्वभौम धर्म के मूलाधार हैं। वहाँ मनुष्य की चिन्तनिका को खुला अवकाश मिला है। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म बौद्धिक निरीक्षण-परीक्षण

१—जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं।

—उत्तरा० ३/८

२—"निग्गहेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं,
मायं न सेवेज्ज, पहेज्ज लोहं।"

—उत्तरा० ४/१५

का हृदय से स्वागत करता है। स्वय भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि धर्म-तत्त्व का निर्णय करने के लिए हम कौन-सा गज लेकर चलें, तो उन्होंने परम सत्य के रहस्य को अनावरण करते हुए तथ्य का उद्घोष किया था—"धर्म तत्त्व का विनिश्चय मनुष्य की प्रज्ञा—शुद्ध बुद्धि ही करती है। बुद्धि-तुला पर परखा हुआ सच्चा धर्म ही जीवन को उज्ज्वल समुज्ज्वल भविष्य की ओर ले जा सकता है।[१]

---

१—"पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्त' तत्त-विणिच्छियं।"

उत्तरा० २३/२५

## संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के समय में धर्म-कर्म की समूची व्यवस्था और सत्ता धर्मध्वजी पुरोहितों के फौलादी हाथों मे थी। शासन-सत्ता के केन्द्रीकरण के कारण उस वर्ग ने अपनी मनमानी तथा मनचाही करने में कुछ कमी न उठा रखी थी। धार्मिक क्षेत्र में सत्ता के इस केन्द्रीकरण में अन्याय, अनीति, शोषण और स्वार्थ लोलुपता देख कर महावीर ने एक ओर इस केन्द्रित शक्ति का विरोध किया और दूसरी ओर पार्श्वनाथ की जो संघ-परम्परा चल रही थी, वह अस्त-व्यस्त हो चली थी, ज्ञान और आचार का धुंधलापन आ जाने के कारण वह एक तरह से लड़खड़ा रही थी, काल के प्रभाव से शैथिल्य और [illegible] आ जाने से वह भी छिन्न भिन्न हो गई थी, अतः भगवान्

महावीर ने उस पूर्ववर्ती संघ-परम्परा को समुचित एव व्यवस्थित रूप दिया। शासन-सत्ता की बागडोर भिक्षु-भिक्षुणी और श्रावक-श्राविका इस चतुर्विधा रूप मे विकेन्द्रित कर तथा पूर्ववर्ती परम्परा का व्यवस्थितीकरण कर महावीर ने सघ-व्यवस्था के नाम पर दुहरा कार्य किया।

भगवान् महावीर के संघ मे त्यागी और गृहस्थ—यह दो वर्ग थे। सघ मे कुल चौदह हजार भिक्षु तथा छत्तीस हजार भिक्षुणियाँ थी। एक लाख नव्वे हजार श्रावक और तीन लाख अट्ठारह हजार श्राविकाएँ थी। उनमे बड़े-बड़े वैभवशाली सम्राट्, राजकुमार, राजरानियाँ और सेठ-साहूकार भी थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय भी थे और वैश्य तथा शूद्र भी थे। धनाढ्य भी थे और गरीब भी थे। राजा भी थे और दास भी थे। भिक्षु-संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति गौतम के हाथो मे था, तो भिक्षुणी-संघ का अधिनायकत्व स्वतंत्रता एवं सफलता के साथ महासती चन्दनबाला करती थी।

उनके संघ का द्वार बिना किसी प्रतिबन्ध अथवा हिचकिचाहट के मानव-मात्र के लिए खुला हुआ था। वहाँ योग्यता, सदाचार एवं आत्म-जागरण की पूछ थी, जाति, वर्ण, रंग-रूप की नही। उसमे आत्म-गुणो की मान्यता थी, अन्य प्रपंचो की नही। चारो वर्णों के स्त्री-पुरुष बिना किसी भेद-भाव के सघ में प्रविष्ट हो सकते थे। इन्द्र-भूति गौतम, सुधर्मा स्वामी आदि सब गणधर ब्राह्मण थे। वीरांगक, वीरयश, संजय, शिव, उदयन

और शंख आदि समकालीन राजाओं ने राज-पाट छोड़ कर जैनेन्द्री दीक्षा धारण की थी। मेघकुमार, एवन्ताकुमार, अभयकुमार आदि क्षत्रिय राज-पुत्रों ने भरा-पूरा वैभव छोड़ कर प्रभु-चरणों से अपने को अर्पण कर दिया था। धन्ना, शालिभद्र, सुदर्शन वैश्य और मेतारज हरिकेशी जैसे अतिशूद्र और अर्जुन माली जैसे पापी संघ मे सम्मिलित हुए और त्याग, संयम और तपस्या के जलते हुए मार्ग पर चलकर गुरु-पद के अधिकारी हुए। चन्दनवाला, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा आदि क्षत्रियाणियां थीं, तो देवानन्दा ब्राह्मणी थी। गृहस्थो में महावीर के मामा वैशाली के अधिपति चेटक, अवन्तिपति चण्डप्रद्योत, राजगृही के सम्राट श्रेणिक और उनका पुत्र अजातशत्रु कूणिक आदि अनेक क्षत्रिय भूपति थे। आनन्द, कामदेव, शंख, महाशंख और सद्दालपुत्र आदि प्रधानतम दश श्रावकों में सद्दालपुत्र जाति से कुम्हार था और आनन्द जैसे वैश्य थे, जो कृषि-कर्म, पशु-पालन तथा व्यापार पर अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करते थे। ढंक कुम्हार होते हुए भी भगवान् का समझदार और दृढ़ उपासक था। स्कन्दक, अम्बड़ आदि अनेक परिव्राजक और सोमिल आदि अनेक विद्वान् ब्राह्मणों ने भगवान् के शासन की शरण ली थी। श्राविकाओं में रेवती, सुलसा, जयन्ती और चेलना के नाम प्रख्यात हैं। जयन्ती जैसी भक्त थी, वैसी अपने समय की परम विदुषी भी थी। भगवान् के समवशरण में स्वतंत्रता से पूछे गये उसके आत्म-स्पर्शी प्रश्न

आगम-साहित्य की एक अमूल्य थाती है।

भिक्षु और भिक्षुणी संघ की पुनर्व्यवस्था करके निस्सन्देह [भ]गवान् महावीर ने मानव-समाज का महान् उपकार किया था। [सं]घ के भिक्षु और भिक्षुणियां जन-हित के लिए गाँव-गाँव में [अ]हिंसा और सत्य की महाज्योति जगाते हुए भारत के इस कोने [से] उस कोने तक पैदल घूम जाते थे। लोक-कल्याण की उदात्त [भ]ावना से अनुप्राणित होकर धर्म-प्रचार करते हुए उन्हे अनेक [क]ठिनाइयों, उपसर्गों और सकटो की विकट घाटियो को पार [क]रना पड़ता था। क़दम-क़दम पर घृणा, अपमान एवं [ति]रस्कार के जहरीले प्याले पीने पड़ते थे; जिनका भिक्षु और [भि]क्षुणियां मधुर मुस्कान के साथ स्वागत करते थे। यह कोई [स]ाधारण त्याग नही था। लोक-हित के नाम पर अपने-आपको [उ]त्सर्ग कर देने का इतना उच्च आदर्श अन्यत्र मिलना असम्भव है। और अपने तपस्त्याग द्वारा आत्मोत्सर्ग कर देने की जब तक इतनी तीव्र आकांक्षा न हो, तब तक जीवन के उच्च धार्मिक सिद्धान्तो का प्रचार करने की सफलता की आशा भी कैसे की जा सकती है?

उनका संघ राढा देश, मगध, विदेह, काशी, कौशल, शूरसेन, वत्स, अवन्ती आदि प्रदेशों मे फैला हुआ था। एक आदर्श, सुसगठित एव अनुशासित सघ-व्यवस्था का ही यह सुपरिणाम था कि उस अवैज्ञानिक युग मे भी, जबकि न तार थे, न टेलीफोन, न रेडियो, न रेल, न वायुयान और समाचार पत्र ही थे—केवल

संघ-योजना और शिष्य-परम्परा द्वारा ही भगवान् महावीर ने अपना दिव्य सन्देश जन-जन तक पहुँचाने का एक सफल तथा लोक-हितैषी प्रयास किया था।

# अवतारवाद नहीं, उत्तारवाद

यह युग अवतारवाद का युग था। भारत के कोने-कोने में अवतारवाद की गूँज थी। प्रत्येक महापुरुष को ईश्वर का पूर्णावतार या अंशावतार बतलाया जा रहा था। नये-नये तत्त्व भी अपने-आपको 'अवतार' घोषित करने में गौरवानुभूति करते थे। अवतारों के प्रत्येक उचित-अनुचित कृत्य को लीला का नाम देकर उनके दोषों तथा दुर्बलताओं पर परदा डालने का प्रयत्न किया जा रहा था।

परन्तु, महाप्राण महावीर ने अपने-आपको कभी ईश्वर [पूर्णावतार] या ईश्वर का अंश नहीं कहा। इतना ही नहीं अपनी सागर-गम्भीर वाणी से उस तथ्यहीन अवतारवादी परम्परा का डट कर विरोध करते हुए उन्होंने जो युग

कहा, उसका सक्षिप्त सार यह है:—

"कोई भी आत्मा अथवा सत्पुरुष ईश्वर का अश नही हो सकता, शुद्ध स्थिति से अशुद्ध स्थिति मे नहीं आ सकता। जैन सस्कृति की मूल चिन्तन-धारा किसी अवतार को स्वीकार नहीं करती। या यूँ कहो कि किसी को अवतार नही मानती। जैन-सस्कृति अवतारवादी नही, प्रत्युत उत्तारवादी है। यहाँ ईश्वर का मनुष्य के रूप मे अवतरण—ह्रास नही माना जाता, मनुष्य का ईश्वर के रूप मे उत्तरण—विकास माना जाता है। अवतार का अर्थ है नीचे उतरना और उत्तार का अर्थ है—ऊपर चढ़ना, विकास करना। अवतारवादी परम्परा मे ईश्वर—परमात्मा नीचे उतरता है, मनुष्य बनता है और उत्तारवादी परम्परा मे मनुष्य ऊपर चढ़ता है, विकास करता है, ईश्वर बनता है, भगवान् बनता है। जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नही है प्रत्युत पूर्ण विकास पाया हुआ मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है।

मनुष्य, मनुष्य से ही कुछ सीख सकता है। बेचारे अवतार मनुष्य को क्या सिखलाएँगे? मनुष्य के अनुकरण की सामग्री, पुरुष से महापुरुष की संघर्षों से भरी जीवन-गाथा मे ही पाई जा सकती है, न कि जन्म से ही भगवान् की नाटकीय जीवन-लीला में। जो जन्म से ही भगवान् हो, उसके आगे मत्था टेका जा सकता है, उसके गुणगान गाये जा सकते है; पर, उससे कोई क्रियात्मक प्रेरणा पाना, अनुकरण के लिए आधार पाना, अथवा

आत्म-शोधन का मार्ग पाना असम्भव है । जीवन-उन्नयन के लिए मनुष्य के लिए तो ऐसा भगवान् चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, जो उसके समान हो सुख-दुःख तथा मोह-माया से सन्त्रस्त रहा हो, और बाद मे आत्म-जागरण की गहरी अंगड़ाई लेकर त्याग-वैराग्य और सयम-तप के अग्नि-पथ पर चलकर आत्म-विजेता बना हो, सदा-सर्वदा के लिए कर्म-पाश से मुक्त होकर आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बना हो।"

महामना महावीर केवल वाणी से विरोध करके रह गए हों—ऐसी बात नही है। उन्होने सार्वजनिक मच पर अपने-आप को मनुष्य बतलाया और अपने पिछले सत्ताईस जन्मो के उत्थान-पतन की जीवित गाथाएँ सुनाकर जीवन का वास्तविक मर्म उद्घाटित किया और समझ मे आने वाली स्पष्ट भाषा मे उद्-घोषित किया—"कोई एक विशिष्ट आत्मा ही समस्त पवित्रताओं का केन्द्र-बिन्दु हो और अन्य सब आत्माएँ सदा अपवित्र स्थिति मे ही चलती रहे—यह एक महती विडम्बना है, जो मानव-जीवन मे निराश-हताश वातावरण का सर्जन करती है। प्रत्येक आत्मा पवित्रता का आत्मसात् कर ऊपर उठ सकती है। जीवन मे किसी भी आत्मा को निराश-हताश, और अधीर होने की आवश्यकता नही है। जैसे मै जीवन की निम्न अवस्था से उठ कर ऊपर आया हूँ, साहस और गहरी आत्म-निष्ठा का संबल लेकर, विरोधों तथा सघर्षों से जूझता हुआ आगे बढ़ा हूँ, मनुष्यत्व से ईश्वरत्व की ओर चला हूँ; ऐसे ही तुम भी आगे—और आगे बढ़ सकते

हो। जहाँ तक मैं पहुँच सका हूँ, वहाँ तक तुम भी पहुँच सकते हो। वीर बन सकते हो, महावीर बन सकते हो, जिन बन सकते हो। क्योंकि प्रत्येक आत्मा में जिनांकुर छुपा हुआ है।"

मनुष्यता के लिए इससे बढ़ कर आशा का सन्देश आज तक नहीं मिला।

# सन्मति-सन्देश

## सन्मति-सन्देश

१—*धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।*
*देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥*

—दशवैकालिक १/१

—धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। धर्म का अर्थ है—अहिंसा, संयम और तप। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२—*पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,*
*किं बहिया मित्तमिच्छसि।*

—आचारांग

—पुरुष! तू ही स्वयं अपना मित्र है। तू बाह्य-जगत् में मित्र क्यों ढूँढता है?

मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम मे पुरुषार्थ।

७—जो सहस्सं सहस्साणं, सगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

—उत्तराध्ययन ६/३४

—जो वीर, दुर्जय संग्राम मे लाखो योद्धाओ को जीतता है; यदि वह एक अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वोपरि विजय है।

८—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

—उत्तराध्ययन ६/३५

—अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए। बाहरी शत्रुओ के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्म-जयी ही वास्तव मे पूर्ण सुखी होता है।

९—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुप्पट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन २०/३७

—आत्मा ही अपने सुख-दु ख का कर्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु है।

१०—अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—उत्तराध्ययन १/१५

—अपने-आप को ही दमन करना चाहिए। वस्तुत. अपने-आप को दमन करना ही कठिन है। अपने-आप को दमन करने वाला इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है।

*११—जमिए जगती पुढोजगा, कम्मेहि लुप्पति पाणिणो।*
*सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥*

सूत्रकृतांग १/२/१/४

—ससार मे जितने भी प्राणी है, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दु.खी होते है। अच्छा या बुरा—जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे विना छुटकारा नही हो सकता।

*१२—कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।*
*माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व-विणासणो ॥*

—दशवैकालिक ८/३८

—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है, और लोभ सभी सद्गुणो का नाश कर देता है।

*१३—उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।*
*मायमज्जवभावेण, लोभं सतोसओ जिणे ॥*

दशवैकालिक ८/३६

—शान्ति ( क्षमा ) से क्रोध को मारे, नम्रता से अभिमान को जीते, सरलता से माया का नाश करे और सन्तोष से लोभ को वश मे करे।

*१४—सबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।*

*नो हूवरणमंति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीवियं ॥*

—सूत्रकृताग १/२/१/१

—मनुष्यो! जागो, जागो! अरे, तुम जागते क्यो नही? परलोक मे अन्तर्जागरण प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नही आती। मानव-जीवन पुनर्वार पाना आसान नही।

*१५—पुरिसो रम पाव-कम्मुणा, पलियंत मणुयाण जीवियं।*
*सन्ना इह काम-मुच्छिया, मोहं जाति नरा असवुडा ॥*

—सूत्रकृताग १/२/१/१०

—पुरुप! मानव-जीवन क्षण-भंगुर है, अत. शीघ्र ही पाप-कर्म से निवृत्त हो जा। ससार मे आसक्त तथा काम-भोगो मे मूर्छित असयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते है।

*१६—जे ममाइअमइ जहाइ. से जहाइ ममाइअं।*
*से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं।*

—आचाराग१/२/६/६६

—जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का त्याग करता है। वस्तुत वही ससार-भीरु साधक है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व नही है।

*१७—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।*
*सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥*

—दशवैकालिक, ७/११

—जो भाषा कठोर हो, दूसरो को दु ख पहुँचाने वाली

हो—चाहे वह सत्य ही क्यो न हो—नही बोलनी चाहिए, क्योंकि उससे पाप का आगमन होता है।

१८—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥
—उत्तराध्ययन ३२/६

—जिसे मोह नही, उसका दुःख दूर हो गया। जिसे तृष्णा नही, उसका मोह चला गया। जिसको लोभ नही, उसकी तृष्णा नष्ट हो गई और जिसके पास अर्थ-संग्रह नही है, उसका लोभ दूर हो गया।

१९—जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥
—सूत्रकृताग १/८/१६

—जैसे कछुआ खतरे की जगह अपने अंगो को अपने शरीर में सिकोड लेता है, उसी प्रकार पण्डित-जन भी विषयाभिमुख इन्द्रियों को आत्म-ज्ञान से सिकोड़ कर रखे।

२०—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्थ।
दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥
—उत्तराध्ययन ४/५

—प्रमादी पुरुष धन द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है, न परलोक में। फिर भी धन के असीम मोह से, जैसे दीपक के बुझ जाने पर मनुष्य मार्ग को ठीक-ठीक नहीं देख सकता, उसी प्रकार प्रमादी पुरुष न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखता।

*२१—जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमन्तसो ।*
*जे इह मायाइ मिज्जइ, आगता गब्भाय णंतसो ॥*

—सूत्रकृतांग २/१/६

—भले ही कोई नग्न रहे या महीने-महीने मे भोजन करे; परन्तु यदि वह माया-युक्त है, तो उसे बार-बार जन्म लेना पड़ेगा ।

*२२—खणमेत्तसोक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।*
*संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥*

—उत्तराध्ययन १४/१३

—काम-भोग क्षण-मात्र सुख देने वाले है, तो चिरकाल तक दु ख देने वाले । उनमे सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दु ख-ही-दु ख है । मोक्ष-सुख के वे भयकर शत्रु है, और अनर्थों की खान है ।

*२३—तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।*
*जं ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥*

—सूत्रकृताग ८/२४

—महान् कुल मे उत्पन्न होकर संन्यास ले लेने से तप नही हो जाता; असली तप वह है, जिसे दूसरा कोई जानता नहीं तथा जो कीर्ति की इच्छा से नहीं किया जाता ।

*२४—जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।*
*जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥*

—दशवैकालिक ८/३६

—जब तक बुढापा नही सताता, जब तक व्याधियाँ नही बढती, जब तक इन्द्रियाँ हीन—अशक्त नहीं होती; तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

२५—*उपलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।*
*भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥*

—उत्तराध्ययन २५/२१

—जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है, अभोगो लिप्त नही होता। भोगी संसार मे भ्रमण किया करता है और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

२६—*अधुव जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्ग वियाणिया।*
*विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो॥*

—दशवै ८/३४

मानव-जीवन नश्वर है, उसमे भी आयु तो परिमित है, एक मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगो से निवृत्त हो जाना चाहिए।

# हमारे मौलिक प्रकाशन

१—अहिंसा-दर्शन ... ४।)
२—जीवन-दर्शन ४)
३—सत्य-दर्शन २॥)
४—श्रमण-सूत्र ५॥)
५—जैनत्व की झाँकी १)
६—जीवन के चलचित्र २)
७—मगल वाणी १॥)
८—उज्ज्वल वाणी [ भाग १, २ ] ५।)
९—काँटों के राही .... १॥)
१०—महासती चन्दनबाला ३)
११—सोलह सती =)
१२—आदर्श कन्या ... ॥।)
१३—आवश्यक-दिग्दर्शन १॥)
१४—सन्मति-सन्देश ॥)
१५—सन्मति-महावीर १।)
६—सगीतिका ३)
७—सगीत-माधुरी ॥।)